नरेन्द्र शर्मा
ज्वाला परचूनी

नरेन्द्र शर्मा का जन्म,
पंचांग के अनुसार फाल्गुन
संवत् १९६९ तदनुस
२८ फ़रवरी १९१३ को ग्र
ज़िला बुलन्दशहर, उत्तर प्र
आरम्भिक शिक्षा गांव में हु
तक खुर्जा में पढ़े। प्रयाग
से उन्होंने १९३६ में एम

प्रयाग में ही साहित्
श्रीगणेश हुआ। वह पत्रक
कर्मचारी, शिक्षक, गीत-सं
रूप में कार्यरत रहे हैं औ
दस वर्षों से आकाशवाणी
हैं। कवि, कहानी-लेखक
के रूप में वह पिछले तीस वर्
सेवा करते रहे हैं।

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

ज्वाला परचूनी

लेखक की अन्य पुस्तकें

शूल-फूल	(कविता-संग्रह)	१९३४
कर्ण-फूल	(कविता-संग्रह)	१९३६
प्रभातफेरी	(कविता-संग्रह)	१९३८
प्रवासी के गीत	(कविता-संग्रह)	१९३९
पलाश-वन	(कविता-संग्रह)	१९४०
मिट्टी और फूल	(कविता-संग्रह)	१९४२
कामिनी	(कथा-गीति)	१९४२
हंसमाला	(कविता-संग्रह)	१९४७
रक्त चंदन	(कविता-संग्रह)	१९४८
अग्नि-शस्य	(कविता-संग्रह)	१९५०
कदली-वन	(कविता-संग्रह)	१९५३
द्रौपदी	(लघु-काव्य)	१९६०

आगामी प्रकाशन

उत्तर जय	(काव्य रूपक)	१९६३
प्यासा निर्झर	(कविता-संग्रह)	१९६३
आरती की थाली	(कहानी-संग्रह)	१९६३

ज्वाला परचूनी

[कहानी-संग्रह]

लेखक
नरेन्द्र शर्मा

समुदय प्रकाशन
५९४, उन्नीसवाँ रस्ता, खार,
बम्बई, ५२

जनवरी, १९६३

मूल्य
दो रुपये, पचास नये पैसे

प्रकाशक :
समुदय प्रकाशन

मुद्रक : डी. पी. सिनहा द्वारा न्यू एज प्रिंटिंग प्रेस, रानी झांसी रोड, नई दिल्ली से मुद्रित।

वक्तव्य

प्रस्तुत कहानी-संग्रह, "ज्वाला परचूनी" कहानी के नाम पर, इसी नाम से प्रकाशित हो रहा है। इसमें बारह कहानियाँ संगृहीत हैं, जो सन् १९४३ में "कड़वी मीठी बातें" नाम से पुस्तकाकार प्रकाशित हुई थीं। लगभग अठारह वर्षों से वह प्रकाशन अनुपलब्ध था। आज के पाठकों के लिये तो जैसे कभी उसका अस्तित्व ही न था।

अतिशयोक्ति न होगी, यदि कहा जाय कि आज के अधिकतर पाठक तो मुझे कहानीकार के रूप में जानते ही नहीं। उनके लिये प्रस्तुत कहानी-संग्रह वस्तुतः नया ही होगा।

ये नई कहानियाँ नहीं हैं। यों भी इन्हें मैंने सन् १९३३ और सन् १९४२ के बीच समय समय पर लिखा था। रचना-काल की दृष्टि से, सर्व प्रथम कहानी "टेक्स्ट बुक" है, जो इलाहाबाद के साप्ताहिक "भारत" में प्रकाशित हुई थी। "ज्वाला परचूनी" और "पिछवाड़ा" कहानियाँ श्री भगवती चरण वर्मा द्वारा संपादित और स्थापित "विचार" साप्ताहिक में सन् १९४० में प्रकाशित हुई थीं। कालांतर में इन कहानियों को मित्रों ने अंग्रेज़ी में भी अनूदित और प्रकाशित किया है। "ज्वाला परचूनी" का गुजराती अनुवाद भी हो चुका है। वास्तव में यही वह हलदी की गाँठ है, जिसके बल पर मैं कुछ लोगों की दृष्टि में कहानीकार-पंसारी बन सका हूँ। स्वाभाविक है कि अब इसीके नाम पर पुस्तक का नामकरण हुआ है।

संगृहीत कहानियाँ कई प्रकार की हैं। क़स्बा, गाँव, कल्पना, भावना—कई एक क्षेत्रों में उगी हैं यह गल्प-वल्लरियाँ। मेरी काव्य-रचनाओं से भिन्न है मेरे लेखन का कथा-पक्ष। भाषा, शिल्प, शैली, निरीक्षण, अनुभूति, विचार और रचना-प्रक्रिया की दृष्टि से, कहानी-लेखक के रूप में कदाचित् मैं वह न दिखूँ जो मैं कवि के रूप में प्रकट हूँ। फिर भी मर्मज्ञ पाठक के लिये मेरे दो विभिन्न रूपों के बीच अभिन्नता का एक तत्व खोज लेना असंभव न होगा।

यदि कहानी-लेखक और कवि के मेरे दो रूपों का तुलनात्मक अध्ययन सार्थक समझा ही जाय, तो यह आवश्यक होगा कि यह कार्य समान कालखंड की निश्चित सीमा में ही किया जाय। सन् १९३३ से लेकर सन् १९४२ तक की मेरी काव्य-रचनाओं के साथ ही प्रस्तुत कहानी-संग्रह का अध्ययन कुछ मानी रखता है। वैसे मैं यह मान कर नहीं चलता कि मेरी कृतियों का अध्ययन होना ही चाहिये। मैं अपनी कृतियों को और अपने आपको अत्यधिक महत्त्व नहीं देता। सच तो यह है कि दूसरों का ध्यान आकर्षित किये बिना भी जिये जाना और अपना काम किये जाना, मैं अपने तथा और सबके लिये एक सहज, स्वाभाविक और स्वीकार्य नियम मानता हूँ।

इस कहानी-संग्रह के प्रकाशन और मुद्रण में मुझे अपने अनेक स्नेही मित्रों का प्रोत्साहन और सहयोग मिला है और इस हेतु मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। पाठक और आलोचक के प्रति भी मैं आभारी रहूँगा, यदि वह प्रस्तुत पुस्तक के प्रति यथासंभव कुछ ध्यान देंगे; अध्ययन न सही, केवल इनका पठन करेंगे।

कहानियाँ तब भी श्री रवीन्द्र नाथ देब को समर्पित थीं और अब भी "ज्वाला परचूनी" उन्हें समर्पित है।

नई दिल्ली।
३० जनवरी, १९६३

—नरेन्द्र शर्मा

सूची

ज्वाला की उम्र काफ़ी हो चुकी है, क़रीब उनसठ साल। पर वह रोज़ चार घड़ी के तड़के उठ जाता है—कुछ तो इसलिए कि वह अकेला है और घर का सब काम-काज ख़ुद उसी को करना पड़ता है, लेकिन ख़ासकर इसलिए भी कि जब तक वह नहा-धोकर क़स्बे के छोर पर अपनी छोटी दूकान तक पहुँच नहीं जाता, पास-पड़ोस के लोग अपने घरों के दरवाज़े खोलना पसन्द नहीं करते। लोग सुबह-सुबह उसका मुँह देखने का जोखिम उठाना नहीं चाहते, कहते हैं वह करमहीन है।

ज्वाला रोज़ी के मामले में करमहीन नहीं है। आज तक किसी के सामने उसने दो पैसे को भी हाथ नहीं पसारा। हमेशा अपने पाँवों पर ही खड़ा रहा है। ज्वाला के बचपन की बात तो अब अतीत की बात हो चुकी है। लेकिन जहाँ तक सुना है, वह यही कि जब से माँ-बाप मरे, उसने किसी का सहारा नहीं तका और न कभी किसी का आसरा ही लिया।

माँ तो ज्वाला के जन्म के दो महीने बाद ही मर चुकी थी और बाप भी ताऊन की पहली महामारी में उसे नौ साल का छोड़ कर चल बसे थे। ज्वाला को लोग मूलिया कहते हैं। मोहल्ले की बड़ी-बूढ़ियों का तो रोज़ का कहना है कि देखो तो वह बचपन में ही माँ-बाप को खा गया।

किन मुसीबतों में उसका बचपन बीता और किन मशक़्क़तों में घिस-पिस कर वह बड़ा हुआ, यह पूरी तरह से कोई नहीं जानता। लेकिन यह सब जानते

हैं कि वह निकला सर्वभक्षी। एक के बाद दूसरी, इस तरह उसने छः शादियाँ की थीं। पर अन्त को उन पत्नियों में से बची एक भी नहीं।

एक न एक बार सब की गोद भी भरी थी, लेकिन बारह बच्चों में से आज उसका नामलेवा एक भी नहीं। सब दो-दो, पाँच-पाँच, दस-दस साल के हो कर मर गये।

सुनते हैं जवानी में जब वह हट्टा-कट्टा था, उसने एक नाइन और फिर ढलती उम्र में एक विधवा ब्राह्मणी को भी घर में बिठाया था, लेकिन उन दोनों उपपत्नियों में से भी कोई न बची। उस वक़्त से विधवाएँ और वेश्याएँ भी उससे डरने लगी थीं।

उसकी जवानी की नाइन उपपत्नी की यादगार आज भी उसके झुर्रियों-दार माथे पर लाठी की चोट के एक बड़े निशान के रूप में मौजूद है। यह लाठी नाइन के पति की थी, जिसने हताश हो कर पुरज़ोर हाथ से ज्वाला पर चोट की थी। कहा जाता है कि चोट उसने इसलिए नहीं की कि वह डाह से बेक़ाबू हो गया था, बल्कि इसलिए कि ज्वाला के इतिहास से उसे विश्वास हो गया था कि उसकी स्त्री ज्वाला के संसर्ग में बचेगी नहीं।

ब्राह्मणी की कथा और भी विचित्र है। सुनते हैं उसके पाँव सिलपट्ट थे और क़स्बे भर में सर्वसोखी के नाम से वह मशहूर थी। जिस घर में गई, उसने वह घर चौपट किया। इसलिए जब वह ज्वाला की रखैल हुई, लोगों के मन उत्सुकता से बेताब होने लगे, यह देखने के लिए कि इनमें बाज़ी कौन मारता है। वह बेचारी महीने दो महीने भी ज्वाला के साथ न टिक सकी। तब से ज्वाला के पराक्रम की कथा पत्थर की लकीर की तरह हमेशा के लिए लिख गई थी। उससे लोग डरने लगे थे। ज्वाला के लिए उनका दिल पत्थर हो गया था, जिसमें बूंद भर भी तो सहानुभूति न थी। थी बस घृणा।

इस घृणा और अपने जीवन के भारी बोझ को ढोता हुआ वह जीता है। क्यों जीता है, ईश्वर जाने! पर यह कि वह इस भार से दबा हुआ है, उसके चलने-फिरने, बात करने और रहने-सहने में—सब तरह से ज़ाहिर है। उसके चेहरे को देखिए। दुखित जीवन की कथा झुर्रियों में नहीं, खाल की ऐंठनों में लिखी है—जैसे मोम के किसी पुतले की आकृति, ताप पा कर, विकृत हो गई हो।

ज्वाला के मनस्ताप का मैं कुछ-कुछ अनुमान कर सकता हूँ। मेरा मन उसकी कल्पना से कभी-कभी मोम की तरह पिघल भी जाता है; लेकिन झूठ क्यों बोलूँ— मैं और लोगों के समान निष्ठुर न सही, कायर तो ज़रूर हूँ। इस

क़स्बे में, और क़स्बे के इस मोहल्ले में मुझे किरायेदार आये साल भर हो गया, पर मैंने भी तो कभी साहस नहीं किया कि ज्वाला के पास जाऊँ और उसके सुख-दुख की बात पूछूँ और अजगर-सी पड़ी हुई मोहल्ले की रूढ़ि को फलाँग जाऊँ। समझता सब कुछ हूँ कि उसके हृदय में विषाद का सीमाहीन रेगिस्तान फैला होगा, कि वह मानवी बस्ती में प्रेत की तरह घूमता है—लेकिन मेरे किये कुछ भी तो होता नहीं। कई बार सोचा है कि उससे बोलूँ-बतलाऊँ, लेकिन मेरी धर्मपत्नी ऐसा होने नहीं देतीं। उनकी यही एक दलील है—'माना कि आप ठीक भी सोचते हैं, लेकिन बस्ती भर की बात झूठ थोड़े ही हो सकती है। —और हम तो परदेसी हैं; इस मनहूस के लिए क्यों अलाय-बलाय सिर पर लें ?' यह कहते-कहते क्षण भर के लिए किसी अज्ञात भय से वह काँप उठती हैं।

मैं चुप हो कर सो रहता हूँ। मेरी आँख खुलती है, जब ज्वाला चरपट मंजरी की एक यही पंक्ति दोहराता हुआ मन्दिर के कुएँ से नहा कर लौटता है—'भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, गोविन्दम् भज, मूढ़मते !'

कितनी बार, कितनी तरह, मैंने इस एक पंक्ति को सुना है ! मैंने इसे ज्वाला की खुली हुई आवाज़ में सुना है, ठिठुरते कण्ठ के टूटते हुए स्वर में सुना है और विराग और विषाद के बोझ से चूर, दुख से दबी हुई आवाज़ में सुना है। रोज यही एक पंक्ति मेरे कानों में सुबह होते ही अनायास गूँज उठती है— 'भज गोविन्दम्, भज गोविन्दम्, गोविन्दम् भज, मूढ़मते !'

इस क़स्बे की, और खासकर क़स्बे के इस मोहल्ले की, बंद पानी की पोखर में डूबते-उतराते हुए हमें एक साल और बीत गया है। हमारे जीवन में कोई विशेष घटना नहीं घटी और इस सामान्य जीवन की गति में बँध कर हमारे मन में और हमारी आँखों में क्षमता नहीं रही कि बाहर के रद्दोबदल और समय के फेर को हम देख सकें।

एक दिन सहसा मुझे लगा कि ज्वाला का स्वर इधर कई दिनों से सुनाई नहीं दिया। इसका यह मतलब नहीं कि मेरे मन में ज्वाला के लिए अनुराग था जो मुझे उसकी चुप्पी अखरती। मेरे मन में तो पड़ोसियों की ऐसी घृणा भी उसके लिए नहीं है। मैं तो पूरी तरह से उदासीन हूँ। लेकिन उपचेतन मन की कोई लहर चेतन के तट से अनायास ही आ टकराई होगी, जिसकी वजह से मैंने सोचा, मैं इधर कई दिनों से ज्वाला का स्वर नहीं सुन रहा हूँ।

पड़ोस के एक सेठ जी और सामने के पण्डित जी से मालूम हुआ कि ज्वाला आठ-दस दिन से अस्पताल में बीमार पड़ा है। पण्डित जी ने वक्र हास के साथ मुझे बताया—'बाबू जी, अस्पताल में न जाता तो करता क्या ? घर में छोड़ी

किसे था जो हारी-बीमारी में पाँव पलोटती और सोने की थाली और गंगाजली लिए सामने खड़ी रहती ।'

मैंने सोचा, वह बेचारा शायद हमारे किसी सरकारी अस्पताल में पड़ा होगा, जो मवेशियों के क़ाबिल भी नहीं होते ।

पण्डित जी ने मोहल्ले वालों को आश्वासन दे रक्खा था कि अब की बार ज्वाला पर पूर्ण मारकेश है, वह बचेगा नहीं । कुछ ने तो आराम की साँस ली थी कि चलो मनहूस से मोहल्ले को छुट्टी मिलेगी । कुछ अभी से डरने लगे थे, यह सोच कर कि ज्वाला फिर भी भूत बन कर अपने घर में आ जमेगा । शैतान और ज़िद्दी बच्चों को बता दिया गया था कि ज्वाला मर गया है और उसका भूत उसके घर में आ बसा है । इस धमकी का उन पर असर भी होने लगा था।

कोई पाँच दिन और बीते होंगे । एक और घटना घटी । ज्वाला ने पण्डित जी को बुला भेजा था, कि पण्डित जी के कहे अनुसार वह गेहूँ और गऊ का दान करके पीड़ा से छुट्टी पाये । कहा जाता है कि गेहूँ और गऊ का दान करके बीमार या तो इधर आया या फिर उधर ही जाता है ।

गऊ की खोज शुरू हुई । ठहरा यह था कि पण्डित जी अपनी पसंद की गऊ लायें और क़ीमत का कुछ ख़याल न करें । ज्वाला को एक-एक पल भारी था ।

लेकिन ज्वाला के हाथ गऊ बेचे कौन ? हिन्दुओं की इस बस्ती में लोग क़साई के हाथ गाय बेचना भले ही पसंद करते, पर ज्वाला के हाथ नहीं । वह कहते; गऊ माता की उसके हाथ क्या गति होगी, हम जानते हैं । एक बार को वह क़साई के खूँटे से रस्सा तुड़ा कर भले ही चली आये, पर ज्वाला के खूँटे पर वह दो घड़ी भी जीती न बचेगी ।'

क़स्बे भर में मशहूर है कि ज्वाला के घर में कोई प्राणी जीता नहीं बचता । एक बार उसने मसीता कुँजड़े से बकरी मोल ली थी, जो चार दिन के भीतर ही पछाड़ खा कर मर गई । श्यामा खटीक की पटिया का भी यही हाल हुआ था । खेमा जाट की कुन्नी भैंस आठवें दिन चल बसी । और अलगू बढ़ई की भली-चंगी गाय तो ज्वाला के खूँटे पर आते-आते ही मर गई । कहा जाता है कि उसने एक बार एक काली बिल्ली भी पाली थी, जिसे साँप ने डस लिया । चार दिन ज्वाला के घर की रोटी खा कर कभी कोई कुत्ता भी तो नहीं बचा । कहा तो यहाँ तक जाता है कि उसके दूकान-मकान में चूहों तक का ठिकाना न था ।

पण्डित जी खेमा ब्राह्मण के पास गये। उसे वहकाया-फुसलाया, ड्योढ़ी क़ीमत दिलाने का वचन दिया। लेकिन खेमा गाय वेचने पर राज़ी न हुआ। छज्जू सिंह ने भी साफ़ इनकार कर दिया। पण्डित जी ने वहुत कहा सुना कि कुछ वह ले, कुछ पण्डित जी को वचे, दोनों का काम चले, दोनों का पेट भरे, लेकिन छज्जू सिंह जाट टस से मस न हुआ। यही हाल सीताराम कहार के यहाँ हुआ। वैसाखी चमार के यहाँ से भी निराश हो कर पण्डित जी खाली हाथ घर लौटे।

पण्डिताइन जी ने रास्ता सुझाया—'अजी अपनी गाय ही तीस रुपये में क्यों नहीं वेच देते ? (वास्तव में रोगी गाय आठ रुपये से ज्यादा की न थी।) संकल्प के वाद तो साथ चली ही आएगी।' पण्डित जी मान गये।

संकल्प के वाद गाय पण्डित जी के साथ ही लौट आई। ज्वाला ने सवा मन गेहूँ, ग्यारह रुपये नक़द दक्षिणा में, और तीस रुपये की गाय के साथ पण्डित जी को विदा किया। घड़ी भर में ज्वाला की साँस उखड़ने लगी।

अनहोनी वात ! एक वार नव्ज़ छूट जाने के वाद, ज्वाला वच गया और आठ दिन के भीतर ही पण्डित जी ने चारपाई पकड़ ली। बीमारी के वाद, अस्पताल छोड़ कर ज्वाला के घर आने के दिन पण्डित जी संसार में नहीं रहे। गऊ माता पिछले दिन शाम से ही हाते में मरी पड़ी थी।

मोहल्ले भर में हाहाकार मच गया। लोगों की आँखों में आतंक छाया हुआ था। कोई किसी से इस वारे में कुछ नहीं कहता था।

ज्वाला जैसे प्रेत का भी प्रेत बन कर घर लौटा। उसकी काली छाया धुएँ की तरह पास-पड़ोस में छा गई। और उस धुएँ में सब की साँस घुटने लगी। आँखें भय से निकली पड़ती थीं।

जेठ का महीना है। धू-धू कर लू चल रही है। सब लोग मकान में बंद ऊँघ रहे हैं। आवाज़ आती है सिर्फ़ कभी-कभी किसी घर की खुली खिड़कियाँ खड़खड़ाने की, जो ऊपर की मंज़िल में ग़लती से खुली रह गई हैं। बाक़ी सब निस्तब्ध है।

थोड़ी ही देर में वाहर के चौक में एक अजब कोहराम मच गया। रुकने की हज़ार कोशिशों के बाद भी सदर दरवाज़ा खोले बिना मैं न रह सका। देखा दो बिजार, एक काला और दूसरा धौला, फाँयें-फाँयें कर हाँफते हुए एक-दूसरे से झड्डी ले रहे हैं, जैसे संगमरमर और स्याह मूसा के दो पहाड़, भूडोल के बल से, आपस में टकरा रहे हों। बालकों के दो दल विरोधी लड़ाकों को बढ़ावा देने लगे।

अब तक इन योद्धाओं के क्षेत्र बँटे हुए थे। काला उत्तर की ओर का मालिक था और नई उम्र का धौला विजार दक्खिन की ओर विचरण करता था। दोनों पार के लड़कों के बीच इनके कारण प्रतिद्वन्द्विता थी। और आज उनकी खुशी का ठिकाना न था, जब दोनों वीर किसी अज्ञात कारण से समर-भूमि में उतर पड़े थे।

बला का ज़ोर था दोनों में। काला विजार पुराना महारथी था और धौले में नई जवानी का ज़ोम था। कौन जीतेगा, कौन कहे? दोनों ओर से विजय की कामना प्रकट की जा रही है। उनके दो क़दम आगे-पीछे होने से विजय-नाद गूँज उठता था। दोनों ओर से गला फाड़ कर बढ़ावा दिया जाता था।

उस पार के सेठ जी के आठ बरस के लड़के टुन्नी को तो देखो। गोल-मटोल बेंट-सा! ज़ोश में गला फूल आया है और मुँह लाल हो गया है। वह धौले की विजय चाहता है। हमारे पड़ोसी सेठ जी का, उसी का हमउम्र लड़का बिल्लू अब भी पुराने योद्धा, काले को उत्साह दे रहा है। बिल्लू अपने मोहल्ले के बादशाह की पराजय का मन में ध्यान भी नहीं लाता। वास्तव में काले के पुराने पराक्रम की कथा से लोगों के मन में उसके सिवा और किसी की जीत की सम्भावना ही नहीं होती—ऐसा उनका अंधविश्वास बन गया है।

ढूह के ढूह उन टकराते हुए पहाड़ों की आँधी के सामने धू-धू करती लू को सब भूल-सा गये। घरों के दरवाज़े पट-पट खुलने लगे। लोग बाहर निकल आये। ज्वाला से भी न रहा गया होगा, हालाँकि अभी उसकी नक़ाहत दूर नहीं हुई थी। अपनी हड्डियों के ढाँचे को ले कर वह अपनी चौखट के सहारे आ खड़ा हुआ। मैंने तो उसे पहली बार ही यों दिन में देखा है। सभी शंकित चकित दृष्टि से हड्डियों के उस दयनीय पंजर को देखने लगे।

जैसे ज्वाला के बाहर आते ही काले की क़िस्मत का फ़ैसला हो गया। धौले के सींग से उसकी बाईं आँख फूट गयी—उससे खून बहने लगा है। दूसरे सींग ने उलझ कर काले के बाएँ सींग को भी तोड़ लिया है। लो, अबके बार ने तो काले को बिल्कुल ही हिला दिया। वह भाग निकला।

'बिल्लू, हट! बिल्लू, हट!' सभी घबरा कर एक साथ चिल्ला उठे। वह काले के पीछे खड़ा था। ज़रूर-ज़रूर वह काले का पीछा करते हुए आतताई धौले की चपेट में आ जायगा।

चिल्ला सब रहे थे, लेकिन जगह से हिला कोई भी नहीं; और अगर हड्डियों का ढाँचा, ज्वाला ही प्राणों की परवाह किये बिना बीच में न कूद पड़ता, तो बिल्लू बिजार के खुरों से कुचल गया होता। ज्वाला खुद चपेट में आया। वह हथेलियों पर और सिर के बल गिरा, लेकिन वह गिरा बिल्लू को ढाँक कर। धौले के दाहिने सींग से उसकी कमर खुरच गयी थी, जिससे खून बहने लगा। सड़क के एक कंकड़ ने माथे पर चोट की। वह लहू-लुहान था। लेकिन अपने जीवन को सार्थक समझ कर कि वह बालक की प्राण-रक्षा कर सका था—वह अपनी चोटों से बेखबर था। उसने बिल्लू को गोद में उठा लिया।

पिछली घटनाओं के धक्के से संज्ञाहत बिल्लू ने आँखें खोलीं और वह चिल्लाया, 'भू...त...भू...त...भू...त...' और वह फिर बेहोश हो गया।

बहुतेरी दौड़-धूप की गयी, लेकिन बिल्लू ने फिर आँखें नहीं खोलीं। क़स्बा भर कहता है, हत्यारा ज्वाला उसे गोद में ले कर ही खा गया।

और ज्वाला ? वह कमज़ोर और घायल है और पागलों की मुद्रा में अब अपनी चौखट पर दिन-रात बैठा रहता है। वह किसी से कुछ बोलता नहीं। अपने मुँह पर की मक्खियाँ भी नहीं उड़ाता। मोहल्ला उजड़ने लगा है। लोग उधर से कम ही गुज़रते हैं। ज्वाला मौत के इन्तज़ार में गुमसुम बैठा रहता है, पर उस बेचारे को मौत नहीं आती।

❀

पिछवाड़ा

सड़क के नुक्कड़ के पास, जहाँ घासवाले, पानी के आम नल के नीचे, घास को धो-धो कर और फुला-फुला कर गठरियों में सजाते हैं, एक पतली गंदी गली है, जो शहराती व्यापारी व्यवसायियों के ऊँचे-ऊँचे मकानों के पिछवाड़े-पिछवाड़े उत्तर की ओर चली गयी है।

सड़क के नुक्कड़ से ज़रा हट कर इक्कों का अड्डा है और उसके आगे वही देसी बाज़ार है, जिसके मालिकों और महाजनों के मकानों और मकानों के पिछवाड़े का हम ऊपर ज़िक्र कर चुके हैं।

गन्दी गली के बराबर-बराबर और ठीक बीचोंबीच, बदबूदार मटमैले गहरे काले रंग के पानी की एक खुली हुई चौड़ी नाली है, जिसके दोनों किनारे पत्थरों से पटे हुए हैं। दक्खिन ओर से गुज़रने में नाली के बाएँ किनारे पर मेहतरों और दूसरे नीच क़ौम के मजूरों के छोटे-छोटे नीचे मकान हैं और दाहिनी ओर सामने वाले बड़े-बड़े मकानों के संडासों और पाख़ानों की खिड़कियाँ और दरवाज़े खुलते हैं।

नाली के पानी की तरह इस गली की जीवन-धारा भी बहती चलती है। जैसे नाली की बदबू से, वैसे इस जीवन से भी शरीफ़ शहराती दूर ही रहते हैं, पर यह गली न समझते हुए भी जानती है शरीफ़ों की सभ्यता का सार क्या है। वह रोज़ देखती है उस गंदे पानी को, जो नाली की राह दुर्गन्ध

फैलाता हुआ बहता जाता है, जिसमें कीटाणु उपजते हैं और जहाँ से महामारी फैलती है। यह गली न समझ सकते हुए भी सब कुछ समझती है कि श्रीमानों के इस व्यवसायी नगर का रूप हक़ीक़त में क्या है—नगर का पिछवाड़ा रोज़ इसकी आँखों के सामने रहता है। हाँ, शरीफ़ों की अशक्त इन्द्रियों में शक्ति नहीं कि वह अपनी सभ्यता के दुर्गन्ध-युक्त सार को पहचानें, अपनी इस व्यवसायी सभ्यता की हक़ीक़त को देखें। वह अपनी नाक दबाते हैं, आँख बचाते हैं।

गली के नरक में जिन मानव-प्राणियों को ठेल दिया गया है, वह जानते हैं कि इन शरीफों का पिछवाड़ा कितना ग़लीज़ है, पेंदी कितनी गंदी है। गली के मानव-प्राणी इसी ग़लाज़त और गंदगी के बीच पले हैं। टुकड़े खाते हैं, शरीफ़ों के मुख से निकले हुए। कमाते हैं मैला—शरीफ़ों की रोग-ग्रस्त गंदी अँतड़ियों से निकला हुआ। कपड़ा जो पहनते हैं, शरीफ़ों की उतरन है। और रहते जहाँ हैं, वह है शरीफ़ों का पिछवाड़ा !

वह सब से ऊँचा मकान, जो दक्खिन की ओर से सब से पहले पड़ता है और जिसके पिछवाड़े में सब से कम बदबू है, वह मँगरू महाजन का मकान है। बीस बरस हुए मकान बना था महाजन की रखैल जसोधा अहीरिन के लिए, लेकिन अब सात-आठ बरस से उसमें एक वकील साहब रहते हैं। वकील साहब तेज़ आदमी हैं, लेकिन भलेमानस हैं। सफल सांसारिक हैं, लेकिन यारबाश भी। रुपये वाले हैं, पर साफ़-सुथरे हैं। उनके मकान के बराबर एक घी के व्यापारी की हवेली है। फिर एक तेली का मकान है, जहाँ शनि देवता के प्रकोप से बचने के लिए, अच्छा खासा किराया देकर, आज एक मोथाराम आढ़ती ने शरण ले रक्खी है। पूरी क़तार ऊँचे-ऊँचे मकानों की है, जिनमें कुछ बिगड़े और बनते हुए रईस रहते हैं; लेकिन अधिकतर तो यहाँ व्यवसायी और व्यापारी हैं। नीचे दोनों ओर दूकानें हैं।

वकील साहब के मकान के ठीक पीछे और गली के दक्खिन छोर के पास, बैसाखी और भदई, ये दोनों भाई रहते हैं। मेहतर हैं, पर मैला नहीं कमाते। जमादार कहलाते हैं, पर करते हैं चौकीदारी। वास्तव में चौकीदारी तो एक ही करता है, दूसरे का काम तो अब भी चोरी-चकोरी करना ही है।

बैसाखी की उम्र होगी कोई पैंतीस साल। वह बड़ा है। भदई जो छोटा है, उसकी उमर बीस के आस-पास है। बैसाखी ने अपने छोटे भाई को लड़के की तरह पाला-पनासा है। माँ-बाप बरसों पहले मर चुके थे, और बड़े भाई को छोड़ कर भदई का सरपरस्त और था भी कौन ? और अब वह भदई से चोरी-चकोरी का काम छोड़ देने को कहता है।

दस बरस पहले तक तो बैसाखी भी चोरी का पेशा करता था। पर एक दिन उसने एकाएक यह काम छोड़ दिया और चौकीदार बन गया। कहते हैं एक अँधेरी रात को, बचने के लिए भागते-भागते, वह मैले की कुण्डी में गिर पड़ा। इसलिए वह घिर भी गया। उसकी हालत पर लोग सिर्फ़ हँसे थे—हँसे थे ठहाका मार कर—और उन्होंने उसे भाग जाने दिया था। कहते हैं उस दिन से बैसाखी ने फिर कभी चोरी नहीं की।

जब वह घर लौटा, तो पहला काम भदई नें यह किया था कि उसने गली के बीच से उठ कर छोरवाला यह मकान ले लिया। और अब उसने वहाँ से भी भाग निकलने की ठान ली है। तब से उसकी जीवनचर्या में महान परिवर्तन आ गया है। वह पिछवाड़े से निकल कर सामने आ जाने के लिए चोरी-चकोरी की जगह चौकीदारी करने लगा है—जैसे महाजनों की चिरौरी कर रहा हो, कि महाराज इस नरक से मुझे मुक्ति दो। उनके समाज से अपने विरोध को त्याग कर, अब वह उनका ख़िदमतगार, उनकी सम्पत्ति का रक्षक बन गया है।

उस पर अविश्वास करने की जगह भागवान लोगों ने उसकी क़दर की थी। वह जानते थे कि बैसाखी चोरी के कला-कौशल से, हर दाँव-पेच से वाक़िफ़ है, चोरों के गिरोहों के कई सरदार उसके मौसेरे भाई हैं, उनके साथ बैसाखी की राह-रस्म है। यह भी सच है कि बैसाखी जहाँ रहा, और जब तक रहा, वहाँ एक तिनका भी इधर से उधर नहीं हुआ। एक-आध बार ऐसा भी हुआ कि उसने जहाँ से नौकरी छोड़ी, वहाँ महीने के भीतर ही चोरों ने छापा मारा। इसलिए डरपोक सूदख़ोर महाजनों और झूठे और गिरहकट व्यापारियों के बीच बैसाखी की काफ़ी पूछ है।

वह चौकीदारी की कला में अत्यन्त निपुण है। एक कला, जो कभी किसी ने दूसरे चौकीदारों में नहीं देखी, देखी है तो सिर्फ बैसाखी में, वह यह है कि गश्त लगाते-लगाते वह चोरों का सगुन बिगाड़ने के लिए और उनके पाँव उखाड़ने के लिए थोड़ी-थोड़ी देर में छींकता चलता है। कहते हैं, इस दाँव का काट चोर निकाल ही नहीं पाये। इस विघ्नकारी मंत्र का निवारण उनके पास नहीं है। कुछ रात गये जो उसे छींकता सुनते हैं; हँसते हैं। लेकिन बहुत रात गये जब वह गहन गम्भीर अंधकार को चीरता हुआ छींकता है, तो पल भर को जैसे झींगुर भी सहम कर चुप हो जाते हैं और रात भी वास्तव में डरावनी हो जाती है।

बाज़ार के लोग जब घर आते हैं, तब यह उनका पहरुआ बैसाखी घर से बाहर जाता है। बाज़ार तो तब तक बंद हो चुकता है, बस रह जाता है दिन

भर का कूड़ा-कचरा या उसको कुरेदते हुए आवारा कुत्ते। कभी-कभी कोई लावारिस गाय भी अपनी थूथड़ी से क़चरे को वखेरती हुई निकल जाती है। बस इक्के-दुक्कें लोग आते-जाते हैं या कभी कोई एकाकी साँड़ वेपरवाही के साथ उधर से गुज़र जाता है।

जैसे-जैसे रात वढ़ती जाती है, बैसाखी अधिक सचेत होता जाता है—जैसे अब उसकी नींद टूट रही हो। जब सब सोते हैं, वह जागता है। इसलिए वह धीरे-धीरे दूसरों से भिन्न हो चला है। रात भर चौकीदारी कर के जब वह घर लौटता है तब उसके साथ, हाथ में धुएँ से काली लालटेन और उसकी चिरसंगिनी पुरानी लाठी के अतिरिक्त, मन में बहुत से विचार भी लौट पड़ते हैं। तब वह बार-बार यही सोचता है कि गली के और लोगों से वह भिन्न है। वह अब उनसे कहीं दूर हट कर रहना चाहता है और जैसे हमेशा उस घड़ी की प्रतीक्षा करता है, जब उसकी यह साध पूरी होगी।

लेकिन भदई अपने भाई के लाड़-प्यार की आड़ में और उसकी पीठ पीछे अब भी कभी-कभी चोरी करता है। वास्तव में भदई और बैसाखी, एक ही पेड़ की दो शाखों की तरह, व्यक्तिगत सम्पत्ति पर स्थित हमारे समाज में विरोधाभास की तरह जीते हैं। इन दोनों में, समाज के वेजोड़ ढाँचे की, वेतरतीव व्यवस्था की विषमता जैसे मूर्त्त हो गई है।

इस विरोधाभास के बीच, अपने-अपने कलांशों और विकलांशों के साथ और बहुत से मानव-प्राणी हैं, जिनसे यह गली अलंकृत है। अन्याय को सहन करते-करते और टाले न टलनेवाली करमगति और समाज के दंड-विधान के अनुसार नरक भोगते-भोगते अब वह अपनी योनि में सुखी और संतुष्ट-से भी प्रतीत होते हैं। सुबह होते ही स्वस्थ स्त्री-पुरुष काम पर निकल जाते हैं। रह जाते हैं पुराने पापी, कुछ चिड़चिड़े बुड्ढे और बदज़बान लड़ाकू बुढ़ियें, जिन्होंने ज़िंदगी भर शरीफ़ों के मैले के साथ अपने जीवन का भार ढोया है, शराबी पतियों से मार खाईं हैं और दुनियाँ की चोटें सही हैं। रह जाते हैं टेढ़े-मेढ़े, मैले-कुचैले, कुरूप और बिगड़े हुए बच्चे, जो या तो नाली के किनारे हाजत रफ़ा करते हैं या नाली के पानी को उलीचते रहते हैं।

नाली के पानी की तरह इस गली की जीवन-धारा भी बहती रहती है—एकरस, एक-सी गति से, अनवरत। अन्याय का ज़हर भी नरक की गली के मानव-प्राणियों की नसों में भर-सा गया है। वह चुपचाप सब कुछ सहन करते हैं, असहनीय दरिद्रता में जीते हैं।

कभी-कभी विरोध की आग भी भड़कती है और तब ताड़ी-शराब की नदियाँ बहती हैं, आपस में गाली-गलौज होती है और खून की धार भी बह चलती है। इस प्रकार, और सिर्फ़ कभी-कभी ही, भाग्य के बेबस ग़ुलाम और नरक के निवासी यह लोग अपने दैव के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हैं।

लेकिन जब शराब और ताड़ी की नदी बहती है, गाली-गलौज की बौछारें होती हैं, प्रहारों की वर्षा होती है और जब चामुंडा के खप्पर में गरम खून उमड़ता है, तब बड़े लोग—जिनका यह पिछवाड़ा है, शंकित होकर अपनी छतों पर आ खड़े होते हैं और कामकारा में बन्द, उनकी बुज़दिल औरतें सहम कर पीछे खड़ी झरोखों से झाँकती हैं। तब पुलिस आती है और गली के मानव-प्राणियों पर सख़्ती होती है। मर्दों को हवालात में ठेल दिया जाता है, बच्चे डर से नाली में जा कूदते हैं, बुड्ढे-बुढ़ियों को ठोकर मार कर अलग कर दिया जाता है। और जो इस लायक़ हैं, उन औरतों के साथ ज़ब्र किया जाता है। तब कहीं सामनेवाले चैन से सोते हैं। इन्तज़ाम करने वाले अपना रास्ता लेते हैं और गली में अमन क़ायम होता है।

और बैसाखी जब यह सब देखता है, गली में उसका दम घुटने लगता है। उसे मतली आती है। वह वहाँ से दूर भाग जाना चाहता है। पहले ऐसी बात न थी। तब उसे गली के अपने साथियों पर नहीं, इस विधान पर क्रोध आता था। पर अब तो उसे क्रोध गली के नीच लोगों पर आता है, वह जिनके साथ रहता है—विवश !

यों बैसाखी और भदई गली के सरताज हैं। और न तो वह गली के साधारण लोगों के हल्ला-हुड़दंग में शामिल होते हैं और न हुड़दंग के परिणामों को भोगते हैं। पर फिर भी बैसाखी गली के जीवन से ऊब गया है। इसलिए वह भदई को भलामानस बना देने की जल्दी में है। वह जानता है कि भला आदमी बनने के लिए गृहस्थ होना ज़रूरी है और इसलिए वह भदई की गृहस्थी बनाने का इन्तज़ाम भी कर रहा है। वह भदई को कई बार समझा चुका है कि प्यास बुझती है घर के पानी से, घाट-घाट का पानी पीने से नहीं।

आज वह मंडी के दो-चार लाला लोगों से रुपया-अधेली करके कुछ माँग लाया है और उसने शिवगढ़ से आये हुए अपने मेहमान की खातिर तवाजह का पूरा-पूरा इन्तज़ाम कर लिया है। शिवगढ़ के चौधरी, बैसाखी के ख़्याल से, भदई के भावी ससुर हैं।

भदई के भावी ससुर की खातिर में बैसाखी ने कुछ उठा नहीं रक्खा है। आज सुबह से ही वह इस काम में जी-जान से लगा हुआ है, इसलिए नहीं कि

उसके सामने आन का या शान का सवाल है। वह तो चाहता है किसी तरह से काम हो जाय। सिर्फ़ इसीलिए वह इतना फ़िक्रमन्द है। इससे भी ज़्यादा फ़िक्र उसे यह है कि कहीं शिवगढ़ के चौधरी पर इन जमादार बन्धुओं का इतिहास न खुल जाय। जब से जगन्नाथ ब्राह्मण यहाँ की चौकी का हेड होकर लौटा है, पुलिस ने बैसाखी से जैसे पुरानी दुश्मनी निकालने की ठान् ली है। बैसाखी की हज़ार मिन्नतों और उसके मालिक महाजनों की भरपूर कोशिश-सिफ़ारिश के बाद भी, जगन्नाथ ब्राह्मण ने भदई का नाम हिस्ट्रीशीट से कटने नहीं दिया है। इसलिए बैसाखी के मन में एक डबका बना ही रहता है।

अपनी ऊँची चौपाल के आदी शिवगढ़ के यह महतर चौधरी, गली के मकान में यों ही नाक-भौं सिकोड़ रहे हैं। शहर के गन्दे पाखाने, जिनके नाम से गाँव वाले शहरों को याद करते हैं, यहाँ ठीक आँखों के सामने ही हैं, और इस बात से चौधरी बहुत खुश नहीं मालूम होते। अब अगर कहीं रात को भदई की हाज़िरी बुल गयी, तो चौधरी कल सुबह ही नौ-दो ग्यारह हो जायेंगे। बैसाखी को यही सब चिन्ताएँ हैं। वह गली के छोर तलक पहुँच गया है, क्या कभी बाहर भी निकल सकेगा?

रात हुई नाच-गा कर गली भी सुनसान हो गयी है। रात जाड़ों की है। बैसाखी अँगीठी में कच्चे कोयले डाल कर उसमें आग फूँक रहा है। सुलगते कोयलों की लाली में उसका चेहरा दीप्त हो उठा है और उसके साथ चेहरे की रेखाओं में लिखा हुआ उसका इतिहास भी स्पष्ट हो गया है। घटनाओं का महत्व नहीं। महत्व है इस बात का कि अपना अस्तित्व क़ायम रखने की कोशिश में, वह पहले चोर बना था और फिर बना सम्पत्तिवालों का ग़ुलाम चौकीदार, जो भूत की तरह घूम-घूम कर, चिल्ला-चिल्ला कर अपने पहले रूप की भर्त्सना करता है और अब उस उद्देश्य से चाटुकार भी बन गया है— अन्यथा वह क्यों शिवगढ़ के चौधरी साहब की इस तरह खुशामद करता कि चौधरी आपका यों बोलबाला है, आप यह हैं, आप वह हैं, आप सब कुछ हैं— और क्यों इस तरह उनकी ताबेदारी बजाता!

आज दरयादिली और खातिरदारी में बैसाखी ने कोई कोर-कसर नहीं रक्खी है। आज वह चौकीदारी पर भी नहीं गया है। चौधरी पर यह असर डालने के लिए कि भदई नाकारा आदमी नहीं है उसने भदई को ही आज चौकीदारी पर भेजा है। साथ ही वह यह भी सोचता है कि सिपाही से कह सुन कर या धेली-पावली चटा कर, वह तो हाज़िरी के मामले को सँभाल भी लेगा, पर तुनकमिज़ाज भदई से कुछ कहते करते न बनेगा।

जब रात के दो बजे, गश्त के सिपाहियों के बूट की आवाज़ सुन कर बैसाखी बाहर आया, सिपाही ने अफ़सराना ढंग से पूछा, "भदई है ?"

"है, दीवान जी !" बैसाखी ने जवाब दिया। दोनों में कुछ गुपचुप बात-चीत हुई और फिर दोनों अलग हो गये।

क़िस्मत की ख़ूबी देखिये कि चौधरी साहब की आँख खुली भी, तो तब !

"क्या था, चौधरी ? बच्चा भदई राम की हाज़िरी लगती है ?" उन्होंने पूछा।

"नहीं, चौधरी, सिपाही यारबाश आदमी है। कभी-कभी आ जाता है रात को वक़्त पूछने, बीड़ी सिगरेट माँगने। भदई नहीं है, तो आज खड़ा हो कर चला गया—नहीं तो भदई से दो-चार बात भी कर लेता है। गश्त लगाते-लगाते बेचारा थक जाता होगा न !" बैसाखी ने कहा।

चौधरी ने किया 'हूँ', और चुप हो गये। और भलेमानस बन कर पिछवाड़े से निकल भागने की बैसाखी की यह कोशिश भी अकारथ ही गई।

❀

सौगात

अररर. . .धम्म ! एक मुसाफ़िर धड़ाम से गिरा । गाड़ी के बाहर नहीं, भीतर—पास की सीट पर बैठे हुए किसी अनजान मुसाफ़िर की गोदी में ।

'आदमी हो या दीवट ?' किसी ने बड़े तपाक से कहा । गुनहगार मुसाफ़िर बेचारा झेंपा हुआ, बुझे हुए चिराग़ की दीवट की तरह ख़ामोश रहा; जवाब न दे सका कि हाँ साहब, दीवट हूँ । मेरे दिल में भी एक चिराग़ जलता है । आज से चार बरस पहले मैंने उस चिराग़ को सँजोया था और उससे पाँच सौ कोस दूर रहते हुए भी मैंने उसे बड़े चाव से उजेला रखा है । पर वह बेचारा यह सब कहता भी किससे; और वहाँ कुछ कहने का प्रयोजन भी क्या था !

जिसकी गोद में वह गिरा था, वह ख़ामोश था । सिर्फ़ आँखें तरेर कर देखता रहा इस अजनबी को, इस ऊजबिनोनक-से आदमी को ।

'भलेमानस गाड़ी को तो रुकने देते ! आखिर इतनी इस्तराबी भी क्या ! क्या आप मलूकज़ादे को पल भर पहले देखे बिना उस पदमिनी को कल न पड़ती ? जानते नहीं कि रुकने से पहले गाड़ी झटका देती है ?'

'जाने तो तब, जब जिन्दगी में कभी झटके झेले हों । कोई गावदी है । शायद पहले-पहल रेल पर चढ़ा है । क्यों जी, रहते कहाँ हो ?'

'कलकत्ते में ।'—गुनहगार मुसाफ़िर ने जवाब दिया । और पूछनेवाला सन्न-सा रह गया, शायद कलकत्ते का नाम सुन कर ।

गाड़ी उस छोटे स्टेशन पर ऐसे रुकी, जैसे छोटी औक़ात के किसी आदमी के घर जाते-जाते बड़े लोग ठिठक भर जाते हैं। लोग बाहर निकले और बाहर से भीतर आये, और इस भगदड़ में किसी को और कुछ पूछने-सुनने की सुध नहीं रही।

गाड़ी चली गई और स्टेशन की सीढ़ियों पर खड़ा वह अकेला मुसाफ़िर पाँच-छ: इक्के-ताँगेवालों की मुँहजोरी का सामना करता रहा—बातों से नहीं, अपनी चुप से। एक चुप सौ को हराती है, सही; पर वह ताँगेवाला, जिसका नाम छिद्दा है, शैतान से भी हार माननेवाला नहीं। बोला—'जो चाहे दे देना, बड़े बाबू!' और वह सामान की ओर लपका। मुसाफिर की सिट्टी गुम। उसकी अँगुलियाँ, इटैलियन की काली जैकेट में टँके सफेद बटनों से खेलने लगीं और कभी क़िस्टीनुमा पट्ठालगी काली टोपी से, जो सिर का तेल सोख-सोख कर अपना रंग बदल चुकी थी। सामान की ओर उसने देखा और जब कुछ करते-धरते न बना, तो सिर्फ़ खीस निपोर दी—पान से रँगे अपने दाँत दिखलाते हुए, जिनमें से दो में सोने के चौंप ठुके थे।

छिद्दा शायद जान गया कि मुसाफ़िर कलकत्ते से आया है, मसखरी करने लगा—'अच्छा बाबू, कुछ न देना, मेरी बेगम के लिए एक जोड़ी कलकतिया सलीपर ही दे देना!' छिद्दा के विनोद पर दूसरे ताँगेवाले भी ठहाका मार कर हँस पड़े—'हाँ, हाँ, बहू का भाई बना ले। तुझे भी मिल जायगा एक कलकतिया धोती जोड़ा और लल्ला के लिए खिलौना!'

इससे पहले कि मुसाफ़िर आपत्ति करता या किराया-भाड़ा ठहराता, उद्दंड छिद्दा के बलिष्ठ हाथों ने सारा सामान उठा कर ताँगे के पायदान पर रख दिया। वह काली पेटी काफ़ी भारी थी, लेकिन छिद्दा के लिए नहीं। दो छोटे-छोटे टीन के डिब्बे, पुरानी रंगीन दरी में लिपटा हुआ बिस्तर और पकी पीली फलियों से लदा वह केले का चर्खा। देर थी अब सिर्फ़ मुसाफ़िर के बैठने भर की। मुसाफ़िर ताँगे में बैठ गया।

छिद्दा ने पूछा—'कहाँ जाओगे, बाबू?' और मन में सोचा, किसी गँवई-गाँव के मेहमान होंगे; तभी तो जमाई-जैसे साज-बाज से आये हैं। सासू पर भी तो रोब जमाना है! मुसाफ़िर ने जवाब दिया—'साधोपुर!' और छिद्दा की बाँछें खिल गईं। खीस निपोरते हुए कहा—'ओह, वहाँ तो मेरी भी ससुराल है। तब तो हम साढ़ू हुए। आप भी वहाँ ब्याहे हैं, बड़े बाबू?' मुसाफ़िर ने कोई जवाब नहीं दिया और न उस ढीठ ताँगेवाले को चुप रहने की ताकीद की। ताँगेवालों में लोगों का स्वभाव और उनकी औक़ात पहचानने

की एक असाधारण क्षमता होती है और इसी के बूते छिद्दा बड़े इतमीनान के साथ ढिठाई करता जा रहा था।

छिद्दा के यों ढिठाई कर सकने का एक और भी कारण था। दूसरे ताँगे-वालों के मुक़ाबले, उसकी औक़ात भी बड़ी है। वह खटीक है सही; लेकिन सैयदपुर मौज़े के असासादार लोगों में उसकी गिनती है। वह दिन तो गये ही समझिए, जब खलीलखां फ़ाख़्ता उड़ाते थे या गाँव के ब्राह्मण और ठाकुर कुजात-वालों को अच्छा मकान न बनाने देते या उनकी विवाहिता बहुओं को चाँदी के (सोने की कौन कहे?) गहने न पहनने देते। दो साल हुए छिद्दा ने पक्का मकान बना लिया है और उसकी स्त्री चाँदी-सोने के गहने भी पहनती है। गाँव के पंडित और ठाकुर छिद्दा से रुपया-धेली उधार भी ले जाते हैं और इस तरह 'कमीन' के सामने हाथ पसारते हैं। लोगों का कहना है कि जब से छिद्दा का बाप मरा है, उसका भाग्य चेता है। बड़ी-बूढ़ी कहती हैं, भाग्य चेता है, जब से बहू घर में आई है, जो गौने को ही पक्के मकान में उतरी थी और अब जिसकी गोद में साल भर का लल्ला खेलता है।

मुसाफ़िर इस सब से अनभिज्ञ है। वह सोच रहा है, चार बरस पहले की उन मीठी बातों को, जिनके सहारे वह काले कोसों कलकत्ते के नरक में मर-मरकर जिया है। हाँ, कलकत्ता ग़रीबों के लिए तो नरक ही है; अमीरों के लिए वह स्वर्ग भले ही हो। कुलीगीरी, पाट के मिल में मजदूरी और फिर चौकीदारी...क्या नहीं किया उसने? कुछ नहीं किया, तो चोरी नहीं की, जुआ नहीं खेला, शराब नहीं पी! लेकिन क्यों? कलकत्ता कोई तपोवन तो है नहीं, जहाँ पवित्र जीवन की दीक्षा लेने वह गया हो! पर धर्म कमाने न सही, धन कमाने तो वह ज़रूर ही गया था वहाँ।

पेट काट कर, कौड़ी-कौड़ी जोड़ कर, उसने कुछ पूँजी भी जमा कर ली है, इस आशा में कि वह जसोदा से ब्याह करेगा। वह हिरनी-सी नटखट, चंचल, हँसमुख जसोदा! अरहर के खेत में, तारों-भरे आसमान के नीचे, जिसे वह वचन दे चुका है, जिससे वचन ले चुका है और जिसके प्रेमपाश में वह बँध चुका है—छोटे चाचा की बड़ी सरहज की भतीजी, वही जसोदा!

अँगुलियों की पोरों पर उसने हिसाब लगाया—पन्द्रह, सोलह, सत्रह, अठारह और फिर—उन्नीस! हाँ, वह अब उन्नीस बरस की होगी—चार बरस पहले पन्द्रह ही बरस की तो छोड़ गया था वह उसे?

वहाँ कलकत्ते में साथी कहते—'पागल है तू, जो उसकी आस लगाये बैठा है! अरे मिट्टी के महादेव, क्या तेरे लिए वह पार्वती अभी तक कुँवारी

ही बैठी होगी ? उसे किसी के सर मढ़ न दिया होगा उसके वाप ने !' वह जवाव देता—'माँ-बाप कोई है नहीं, वस चाचा हैं। वह भी लोभी, उसे भतीजी को व्याहने की भला क्या पड़ी ?' जवाब मिलता—'तव तो और भी जल्दी वला टाली होगी उसने। ले-दे कर सात फेरे डाल दिये होंगे किसी के साथ। कोई गाँठ का पूरा मिल ही गया होगा। मैं कहता हूँ, तू पागल है, पूरा पागल...!'

जैसे-तैसे वह अपने-आपको वहुत समझा-वुझा कर रखता, पर कभी-कभी आशंका से वह काँप उठता। लेकिन हमेशा वह आशंका का यही अन्तिम उत्तर देता—'मेरी जसोदा ऐसी नहीं है। कौल हार चुकी है !' और फिर जब कभी वात छिड़ती और कोई साथी सुझाता कि किसी से दो अक्षर लिखा कर एक चिट्ठी ही डाल दे; पूछ देख ! तो वह मन मसोस कर कहता—'वह भी तो पढ़ी-लिखी नहीं है, दादा ! चिट्ठी चाचा-चाची के हाथ लगी, तो और उसकी फ़ज़ीहत होगी।'

लोग कहते—'ऐसी सगाई की कौन परतीत ? लुगाई की जात है, पागल, लुगाई की जात !—कहीं-न-कहीं बैठेगी ही ! पानी कहीं गड्ढे में न भरेगा, तो क्या तेरे लिए रुका रहेगा ?'

'भगवान् साक्षी हैं, भैया ! हमारे कौल-करार हो चुके हैं।'—वह जवाव देता। और साथी कहते—'सुना नहीं है, बौड़म ? एक कन्या सहस्र वर ! वह तो ईश्वर ने मिठाई ही ऐसी वनाई है कि जिसे देख कर हज़ारों के मुँह में पानी भर आये !"

पर उसने कभी इन दलीलों पर विश्वास नहीं किया। वह कहता—'हम एक-दूसरे के हो चुके हैं, दादा !' और अगर साथी हँसते, तो वह चुप हो जाता !

आज अपनी जसोदा के लिए वह सौगात लाया है—साड़ी-जंपर, पेटीकोट, शीशा-कंघी, तेल-फुलेल, कलकतिया सलीपर, वुन्दे-नलकी...और न जाने क्या क्या ?

यह उसकी चोटी-एड़ी के पसीने की कमाई है, पेट काट कर जमा की हुई कमाई, उस मधु-क्षण के लिए जमा की हुई कमाई, जब वह जसोदा के चरणों पर रलमल-झलमल करती हुई इन सब चीज़ों को सजा कर रख देगा और जब उसकी जसोदा एक विस्मित दृष्टि इन सब पर डालेगी और दूसरी विमुग्ध, सम्मोहन-दृष्टि स्वयं उस पर—चार वरस के विछुड़े अपने प्रेमी पर—और एक पग आगे वढ़ अपने प्रेमी की छाती पर सिर धर कर जब वह आहिस्ता

मे कहेगी—'मैं तुम्हारी हूँ, तुम्हारी। आने में इतनी देर क्यों की, निर्मोही ? मैं इन चीज़ों पर थोड़े ही रीझती, मैं तो रीझी थी तुम पर...!'

वह मन-ही-मन प्रेम-पुलक से भरी अपनी जसोदा का चित्र बनाता, जो शरमा कर ज़रा मुस्कुराएगी और शरीर से, मन से, उसकी हो जायगी।

'चल चल रे नौजवान !'—छिद्दा ने घोड़े को रास से थपथपाते हुए आवाज़ दी। पके खेतों पर से आते हुए सांध्य समीर को सूँघ कर, अपने चौड़े-चौड़े बड़े नथुनों से साँस फेंकते हुए, उस ज़ोमदार घोड़े ने चाल तेज़ की और साँझ के सूनेपन में घोड़े की टापों की टप्-टप् दूर-दूर तक गूँजने लगी।

सड़क की दाईं ओर दूर किसी बाग़ की करवट में सूरज डूब रहा था। पत्तों से छन-छन कर आती हुई उसकी किरणें सुरंग घोड़े की दमकती हुई पीठ को और भी चमका रही थीं, जैसे किसी ने घोड़े पर सुनहले कलाबत्तू का साज डाल दिया हो। साँझ की किरणों ने ज़ीन और पट्टों में लगे पीतल के बकसुओं को सोने की आब दे दी थी और घोड़े के गले में पड़ी हुई माला तो जैसे सोने में ही मढ़ दी गई थी। उस ज़ोमदार जानवर की पुष्ट लम्बी गरदन पर लोट-पोट कर अयाल शीशे-सी दमकती हुई देही को सहलाते हुए नाचते। सिर पर की कलग़ी अपनी रंगीनी का परिचय देती हुई हवा से बातें कर रही थी।

छिद्दा जितना ही रास खींचता, घोड़ा उतना ही आगे बढ़ता जाता था। छिद्दा उसे शाबाशी देता और घोड़ा और ज़ोर से लपकता। लेकिन घोड़े की चाल, सड़क के दोनों ओर उथली खाइयों में भरे लाल-नीले पानी, गुलाब की पँखुड़ियों-से बिखरे बादल या उसके नीचे सिमट कर खड़े हुए मौन-मुग्ध संध्या के गुमटीदार वृक्षों में क्या और कैसा सौन्दर्य था—वह सब हमारे मुसाफ़िर की आँखें न देख सकीं। कहीं अकेला विधुर सारस एक पाँव पर खड़ा साँझ की दुनियाँ को उदासी से देखता, तो कहीं सारसों की जोड़ियाँ दिशाओं को गुँजाती हुई उड़ती जातीं। कहीं नादान टिटिहरी टिटिहाती और कहीं लाल बादल के नीचे गोरे-गोरे बगुले कलाबाज़ी करते—जैसे आसमान से गुलदावदी के फूल झरते हों। मुसाफिर अपने भावों की धारा में डूबता-उतराता चला जा रहा था कि सामने साधोपुर दिखलाई पड़ा, जिसके पीछे सूर्य गिर चुका था और अगल-बगल धरती आसमान की ओर लाली उगल रही थी।

छिद्दा ने साधोपुर से निगाह हटाये बिना ही पूछा—'किसके यहाँ जाओगे ? साधोपुर तो यह आ गया।'

'रमला चौधरी के घर।'—मुसाफ़िर ने जवाब दिया।

'लेकिन रमला चौधरी तो परसाल गुज़र गये।'—छिद्दा ने कहा।

'तो उनकी बहू होंगी, चाची जनको।'

'वह मैके में रहती हैं, अपनी भावज के पास।'

'और जसोदा, उनकी भतीजी?'—मुसाफ़िर ने पूछा।

'क्या कुछ रिश्तेदारी है उससे?'

'हाँ, मैं जसोदा के बड़े फूफा के भाई का लड़का हूँ।'—उसने कुछ झेंपते हुए जवाब दिया।

'तुम्हारा नाम बालाराम है?"—छिद्दा ने पीछे मुड़ कर पूछा।

'हाँ', मुसाफ़िर के मुँह से निकला। और उत्तर सुन कर छिद्दा ने बिना कुछ कहे-सुने ही घोड़े को उलटा मोड़ दिया। इससे पहले कि किंकर्त्तव्यविमूढ़ बाला कुछ कैफ़ियत तलब करे, छिद्दा ने घोड़े को चौक छोड़ दिया और धूल के बादल उड़ाता हुआ वह लौट पड़ा।

'पर हम जा कहाँ रहे हैं?'

'जहाँ जसोदा है।'

'जसोदा कहाँ है?'

'सैयदपुर में।'

'सैयदपुर में कहाँ?'

'उसकी नातेदारी है।'—इतना कह कर छिद्दा ने बाएँ हाथ को ताँगा मोड़ दिया, जिस रास्ते की ओर देख कर घोड़े ने आते वक़्त अपने चौड़े नथुनों से फुफकारा था, जहाँ उसने गरदन मोड़ी थी और जहाँ उसके चारों पाँव क्षण-भर को ठिठके थे।

जब तक ताँगा सैयदपुर पहुँच कर गाँव के बाहर की ओर एक नौहरे के पास रुक नहीं गया, पता नहीं बाला के मन में क्या-क्या भाव आये और गये; किन विचारों के बवंडर उठे और क्या तर्क-कुतर्क उसके अन्तर को कुतरते रहे।

ताँगा रुका। छिद्दा ने ज्वाला का सामान उतार कर चबूतरे पर रख दिया। किसी को आवाज़ दे कर एक पलँग मँगवाया, दरी बिछाई और हुक्का-पानी की बात पूछी।

घोड़े को ठंढा करने के लिए छिद्दा उसे घुमा रहा था और चबूतरे पर बैठे हुए बेचारे बाला का माथा ज्यादा से ज्यादा गरम होता जा रहा था। जो तरह-तरह के सवाल उसके मन में उठ रहे थे, वह उनका जवाब किससे पूछे, कैसे पूछे? पेट के ऊपर कौड़ी के पास जो जी मतलाने वाला मन्दा-मन्दा दर्द उठ रहा था, वह उसे किस पर प्रकट करे? गले में जो काँच का गिलास खंड-खंड हो गया है, वह उसे कहाँ उगले?...और जसोदा? आखिर वह है कहाँ?

उसकी कनपटी के ऊपर की नस फूल आईं और दिल की धड़कन भीतर पसलियों पर मूसल चलाने लगी। उमस से घुटती हुई गरमी की यह साँझ अपने आखिरी दम वाला का गला घोंटने लगी। वाला ने कुरते का ऊपर वाला वटन खोला, गला ढीला किया और फिर इटैलियन की जैकेट के भी वटन खोल दिये। श्वास घुटता गया, वह पसीने में नहाने लगा और होश गुम।

घड़ी भर वाद वाला ने आँखें खोलीं। सामने खड़े नीम के पेड़ पर हरीकेन लालटेन टँगी थी और सिरहाने बैठी एक स्त्री पंखा झल रही थी, जिसकी गोद में क़रीव एक वरस का बच्चा दूध के लिए हाथापाई कर रहा था। वाला को आँख खोलते देख वह बोली—"वाला भइया, अव कैसी तवीयत है तुम्हारी? तुम भला कलकत्ता शहर के रहने वाले, ऐसी गरमी, धूल-मिट्टी क्यों सही जाती?'

पास कहीं अँधेरे में बैठे हुए छिद्दा ने कहा—'जसोदा, तुम्हारे भइया बड़े नाजुक हैं!'

वाला को परिस्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान हुआ। जसोदा ने कहीं दूर खड़े हुए अपने देवर से कहलवाया कि इनका सामान तो वैठक में रखवा दो। छिद्दा ने तम्वाकू का धुआँ छोड़ते हुए कहा—'भैया हो तो ऐसा कि सहेज कर सौ-सौ सौगात लाये वहन के लिए, और वहन हो तो ऐसी कि सामान को आँखों से ओझल न होने दे।'

'क्या सौगात लाये हो मेरे लिए, वाला भइया?'—जसोदा ने पूछा।

'कलकतिया सलीपर!"—छिद्दा ने जवाव दिया। और इस वार वाला ने भी खीस निपोर दी, बोला—'जीजा, कोई ताज्जुव है, जो भइया वहन के लिए सौगात लाये? वड़े भाग्य से तो दरसन हुए हैं!' वाला उठ बैठा।

जसोदा ने गद्‌गद् होकर वालक को वाला की गोद में रख दिया—'यह तुम्हारा भानजा है, वाला भइया!'

वाला ने अंटी टटोल कर एक रुपया निकाला, खुश्क हँसी हँसते हुए वालक को दुलराया, प्यार किया और उसकी मुट्ठी खोल कर रुपया हाथ पर रख दिया। थूक सटक कर गले को तर करने की कोशिश में मठारते हुए, वह वालक को हाथों में उछाल कर 'हू-हू हाउ-हाउ' कहता हुआ, उसे खिलाने लगा। बच्चा भी किलकारी भर कर हँस पड़ा।

रात को जब सब सो गये और वाला चबूतरे पर पड़ा-पड़ा जव साँसें गिन रहा था, उसकी नज़र बैठक में होने वाली खड़बड़ की ओर गई। उसने देखा कि उसके खुले बक्स के सामने बैठी जसोदा एक-एक कर सब सामान को जाँच रही

थी। बाला के कानों में भी कुछ भनक-सी पड़ी—'ओहो जी, बड़ा प्यार उमड़ रहा है भइया पर!'

जसोदा ने कनखियों से देखते हुए जैसे जवाब दिया—'जानते हो, पीहर का कुत्ता भी प्यारा होता है!'

'ओहो, इस समय पीहर की बड़ी याद आ रही है?' और वह शरारत-भरी हँसी से खिलखिलाता हुआ जसोदा को चुटकी काटने लगा।

बाला की नज़र उस ओर टिक गई और अँधेरे में उसकी टकटकी बँध गई!

❀

टैक्स्टबुक

हरी अब अँगरेज़ी स्कूल में पढ़ने लायक़ हो गया है। उसने इसी साल तहसीली मदरसे से दरजा चार पास किया है और अब वह अँगरेज़ी स्कूल की पाँचवीं क्लास में दाखिल होगा, जिसे स्कूल वाले स्पेशल क्लास भी कहते हैं।

सुखिया यदि सोचती और उन मुसीवतों का ख़याल करती, जिनके वाद वह हरी को इस क़ाविल वना सकी थी, इतना बड़ा कर सकी थी, तो उसे ख़ुद भी ताज्जुब होता। लेकिन सुखिया को न सोचने की फ़ुरसत थी, न ताज्जुब करने की। वह जीवन की गति के साथ अनायास वहती रही थी। उसकी साँसों का क्रम जीवन के क्रम के साथ हिल-मिल गया था, घुल-मिल गया था।

वैसे भी, सोचने और स्वप्न देखने का काम तो बच्चों का होता है। हरी न जाने कव से, न जाने कितने दिनों पहले से, अँगरेजी मदरसे का (जिसे वह गर्व से हाई स्कूल कहता था) स्वप्न देखा करता था। बगीचे से सजी हुई, स्कूल की पत्थर की ख़ूवसूरत और आलीशान इमारत; उसमें पढ़ने वाले, निकर्स और सफ़ेद कमीज़ों वाले वे हँसते-खेलते और कभी-कभी अंगरेज़ी में गालियाँ देने वाले लड़के; क्लास के कमरों की मेज़ कुर्सियाँ; खेल का मैदान और उसमें गड़े हुए रंगीन गोलपोस्ट और हॉकी-फ़ुटवॉल—ये सभी चीज़ें हरी को बारी-बारी से आकर्षित किया करती थीं, खास कर तव, जव वह मदरसे के मूंज के वने हुए मैले फ़र्श के टुकड़ों से ऊव कर और रूखे मुदर्रिसों से छुट्टी पा कर शाम को घर लौटा करता था। घर का रास्ता हाईस्कूल के पास से ही गुज़रता था,

और हरी क़रीब-क़रीब रोज़ ही बचपन की हसरतभरी निगाहों से स्कूल को देख लिया करता था।

सुखिया एक विधवा ब्राह्मणी है। मेहनत-मज़दूरी कर के वह अपने इकलौते लड़के का पालन-पोषण करती है। लड़के का पूरा नाम हरिश्चंद्र; और घर और पास-पड़ोस और मोहल्ले का नाम हरी है।

हरी की उम्र पूरे दस साल की है। इसका यह अर्थ हुआ कि हरी के पिता का देहांत हुए भी पूरे दस साल हो गये। पति का देहांत और पुत्र का जन्म, ये दोनों महान घटनाएँ सुखिया को एक ही दिन और दो ही एक क्षण के अंतर से देखनी पड़ी थीं।

उस दिन वह अंतिम समय तक भले की उम्मीद लगाये मरने वाले की चारपाई की पाटी पर सिर रक्खे बैठी रही थी। लेकिन जब सबके देखते-देखते रामचंद्र के प्राण-पखेरू उड़ने लगे और जानेवाले को रोकने के बजाय, पास-पड़ोस के सब लोग उसे नीचे लेने लगे, सुखिया ने अनुभव किया था जैसे किसी ने एकाएक उसकी कोख में ज़ोर से प्रहार किया हो। दर्द से उसका गला घुटने लगा था और पति की लाश को पृथ्वी पर पड़ी हुई छोड़ कर, वह बग़ल वाली कोठरी में जा लेटी थी। सुखिया पूरे दिनों से थी।

राम नाम का कठोर सत्य घोषित करने वाली, रामचंद्र की लाश को ले जाने वालों की गंभीर आवाज़ और नवजात शिशु की महीन-सी चीख, एक ही साथ उसके कानों में पड़ी थी। दाई ने कहा था, लड़का हुआ है।

लड़का है तो क्या ? सुखिया क्रोध से उसका गला घोंट देना चाहती थी। दो ही क्षण बाद लक्ष्य आत्महत्या की ओर बढ़ गया। लेकिन बच्चे का क्या होगा ? यह सोच कर वह अपने बच्चे के लिए जीवित रही।

उसकी आँखों से पहला पागलपन जाता रहा। जो हाथ बच्चे की गुलाबी गर्दन पर पड़ने वाला था, कंपनशून्य और स्थिर होकर बालक के नरम कपोलों को सहलाने लगा। सुखिया उसके पूरे चेहरे पर धीरे-धीरे हाथ फेरने लगी। दूसरे दिन उसने बालक का मुँह भी चूम लिया।

तालाब में पत्थर फेंकने से लहरें उठती हैं और कुछ देर घूम फिर कर विलीन हो जाती हैं। रामचंद्र की जवान मौत ने सबका दिल हिला दिया था। लोगों को सहानुभूति हुई, सुखिया पर दया आई। कुछ ने लड़के को सत्यानाशी और मूलिया कहा। लेकिन फिर, जो हमेशा से होता चला आया है, वही हुआ। लोग उदासीन रहने लगे। हरी था, एक असहाय शिशु, जिसके साथ सुखिया दुनियाँ में अकेली रह गयी !

अकेली क्यों ? उसका भी अपना एक संसार बन गया था। अपने को मिटाती थी वह, हरी को बनाने के लिए। वह हरी को पाने के लिए ही तो सब कुछ खो चुकी थी। हरी का और उसका अपना एक संसार था।

जुलाई की नवीं तारीख है। स्कूल में दाखिले के दिन हैं। हरिश्चंद्र चार घड़ी के तड़के ही चारपाई से उठ गया है। माँ से कपड़ों के लिए, किताबों और कापियों के लिए और जूतों के लिए झगड़ने लगा है। सुखिया, नित्य की तरह, अपनी चक्की में व्यस्त है।

सुखिया के पड़ोसी सेठ मदनलाल, भाप से चलने वाली चक्की का आटा पसंद नहीं करते। उनका खयाल है कि हाथ की चक्की का आटा इंजिन से पिसे हुए, जले-भुने आटे से कहीं अधिक लाभदायक होता है। और इसी बहाने सुखिया को दो-चार आने की आमदनी हो जाती है।

चक्की अपनी घहराती-घूमती आवाज़ से चल रही है, जैसे द्वाभा के देश में घहराती-घूमती आवाज का कारवाँ अपने ऊँचे-नीचे पथरीले पथ पर किसी अज्ञात दिशा की ओर युगों से चला जा रहा हो। सुखिया कभी-कभी एक हाथ से खोंच भर-भर कर, चक्की के मुँह में अन्न डालती जाती है, चक्की के पाट को घुमाती जाती है। वह अलसाई हुई सुबह की बेखुदी में और चक्की की घहराती-घूमती आवाज़ में सब कुछ भूले हुए है।

हरी वास्तविकता के अधिक निकट है। उसे अँधेरे पर झुंझलाहट आती है। वह सूरज की निकासी के लिए अधीर है। ओह, न जाने कब ?—स्कूल जाने का समय कब आयगा ?

छः भी बजे। सभी लड़कों ने लम्बी छुट्टियों के बाद बड़े उत्साह से स्कूल जाने की तैयारियाँ की हैं। रामू हरी को लिवा ले चलने के लिए आया है। वह पैरों में चमकीला सस्ता नया जूता पहने है; ऊपर खाकी निकर है, जो उसे बड़े भाई से, छोटा हो जाने के बाद, मिला है। स्काउटिंग की खाकी कमीज़ निकर के भीतर ठुंसी हुई है। उसके एक हाथ में नई कापियाँ और किताबें हैं।

हरी की नज़र अपनी क़लम पर गयी। होल्डर भी पुराना है, और निब भी। होल्डर का तो रोगन भी मैला हो गया है और कहीं-कहीं से उचट भी गया है। बात दरअसल यह है कि सुखिया ने अपने पति की एक मात्र यह धरोहर आज तक बड़े जतन से सेंत कर रख छोड़ी थी—शायद आज के दिन के लिए ही। साथी की नई क़लम के बाद अपनी पुरानी क़लम को देख कर बालक का मन खिन्न होने लगा है।

उसके पास तो जूतियाँ भी पुरानी हैं और वह भी इसी क़स्बे के चमारों की बनाई हुई। निकर की जगह उसके पास चिरेवाँ किनारी की नागपुरी मोटी धोती है। उसकी गवरून की कमीज़ भी सिकुड़ी हुई और घर की धुली है। वह एक साल की पहनी हुई है और वटन भी उसमें पैसे के आठ वाले, टीन के हैं।

नई आशाओं से दीप्त और नई कामनाओं से खिला हुआ, वालक का वह भोला चेहरा अव फीका पड़ गया है। वह अपनी पुरानी क़लम को कहीं गिरा देना चाहता है, ताकि नयी और चमकती निव वाला पेन ख़रीद सके। वह मन में सोचता है, कैसा अच्छा हो, अगर कमीज़ कहीं भूल से छूट जाय और खो जाय या खेल-कूद में फट जाय।

रामू के साथ दरवाज़े तक जा कर वह वापिस लौटा और दवी ज़वान से उसने कहा—'और अम्मा, फ़ीस के लिए और कितावों के लिए रुपए?' सुखिया ने उसे पाँच रुपए दिये।

सहसा किसी ने छींक दिया। सुखिया ने हरी को वापिस बुला लिया और एक पेड़ा खिला कर उस पर एक घूँट पानी पिला कर ही जाने दिया। हरी, अपने और रामू के वीच जो अंतर था, उसे भूल गया।

'वेटा, फ़ीस माफ़ करा लेना,' सुखिया ने हरी को याद दिलाने के लिए जाते-जाते कह दिया। हरी का चेहरा एक वार तमतमा कर फिर उतर गया। रामू के सामने अम्मा ने फ़ीस माफ़ कराने के लिए क्यों कह दिया?—हरी के मन में यही एक प्रश्न, अटके हुए शर की तरह, वार-वार चुभ-चुभ कर खटक रहा था।

सुखिया अपने वच्चे को लाड़-प्यार से पालती थी, लेकिन वड़ी होने की वजह से उसके नन्हें-से सुकुमार हृदय को पूरी तरह से समझने में असमर्थ थी, और फिर सवसे वड़ी मजबूरी थी—ग़रीबी!

पीस-कात कर वह जो कुछ पैदा करती थी, दो प्राणियों के लिए काफ़ी हो जाता था। रोज़ का खर्च चला कर, सुखिया महीने में चार-छः आने बचा भी लेती थी, इस खयाल से कि मेला-दशहरा पर हरी के काम आएँगे। वह यह नहीं देख सकती थी कि उसका लाल किसी का मुँह देखता रहे। आठ-दस आने, ऊपर के आले में रक्खे वोइया में पड़े रहते थे।

पाँच-दस रुपये की पूँजी सुखिया के पास और भी थी। कभी-कभी जब हरी के मामा-मामी आते तो अपना पेट काट कर, भानजे को एक-दो रुपए दे जाते थे। इस रक़म को सुखिया ने जेट-माँटों के नीचे ज़मीन में दबा दिया था—हरी की वहू को मुँहदिखायी में हँसली गढ़वा देने के लिए।

सुखिया ने आज तक इज़्ज़त से ज़िन्दगी बसर की थी। औरों के सामने पैसे, दो पैसे को भी हाथ नहीं पसारा था। खुद भूखी रह कर, कभी-कभी रात-रात भर चक्की चलाती थी। हरी को गुड़ और पराँठा खिला कर सुला देती और खुद आँखों में ही रात गुज़ार देती थी। दोपहरी तो हमेशा ही उसके ऊपर से गुज़रती थी।

हरी स्कूल से हँसी-खुशी लौटा। माँ के चुमकारने का बदला वह तकाज़ों से देने लगा। 'अम्मा, हमको खाकी कमीज़ और निकर बनवा दो। अम्मा, हमको अँगरेज़ी जूते दिलवा दो। अम्मा, हाँ, किताबों के लिए और रुपये चाहिएँ।' पहले दिन सीखा हुआ सबक़ हरी अपनी अम्मा को इस प्रकार सुनाता रहा।

हरी की ख्वाहिशें पूरी हो गयीं। लेकिन दूसरे दिन का सबक भी अम्मा को फिर वैसे ही सुनाया जाने लगा। 'अम्मा, आठ सादी कापियाँ चाहिएँ, एक कापी ड्राइंग की चाहिए, एक ड्राइंग बक्स, जिसका परकार अच्छा होता है, एक रबर, एक पैमाना, और अम्मा हाँ, होल्डर और निब।'

'बेटा, फ़ीस माफ़ हो गयी?' सुखिया ने पूछा।

'अम्मा, फ़ीस माफ़ वालों की पढ़ाई अच्छी नहीं होती—और अम्मा, सब लड़के तो फ़ीस देते हैं। अम्मा, फ़ीस तो बस ग़रीब लड़कों की माफ़ होती है।' हरी का ख्याल था कि अँगरेज़ी स्कूल हाई स्कूल ही कहाँ रहा, अगर फ़ीस माफ़ करा के वहाँ पढ़ा जाय। वह तो चटसाल में ही पढ़ने के बराबर होगा। गर्व तो उसे फ़ीस के ऊपर होता है।

इस बार सुखिया ने वैधव्य की निशानी अपनी चाँदी की चूड़ियाँ गिरवी रख कर लड़के की फ़रमाइशें पूरी कीं। लेकिन साथ ही फ़ीस माफ़ करा लेने की ताकीद भी कर दी।

आठ दिन और बीते। हरी स्कूल से छुट्टी होने से पहले ही लौट आया। उसका मुँह उतरा हुआ था, आँखें रोने से कुछ लाल थीं।

बहुत पूछने पर हरी ने बताया कि उसकी फ़ीस माफ़ नहीं हुई है और मास्टर ने एक किताब न होने की वजह से उसे क्लास से निकाल दिया है।

'फ़ीस माफ़ नहीं हुई?'—सुखिया ने कहा, और उसका कलेजा धक से रह गया। यह बेचारी न समझती थी कि बिना सिफ़ारिश की अर्जी के लिए और चारा ही क्या था। निर्णायकों का भी क्या दोष है? सौ-दो-सौ अर्ज़ियों के बारे में ऊपरी बातों के सिवा और जाना भी क्या जा सकता है, जब कि दो घंटे

के थोड़े-से वक्त में ही उन्हें अपना निर्णय देना हो ? सिफ़ारिश के अलावा निर्णय का आधार और हो ही क्या सकता है ?

सुखिया असमर्थ थी, मौन थी और परवशता के कारण गम्भीर थी। 'अम्मा टेक्स्ट बुक ?' हरी ने कहा।

सुखिया ने निश्चय कर लिया कि हरी को वह कल से अँगरेज़ी स्कूल में न जाने देगी, वह उसे मुनीमी पढ़ाएगी। लेकिन इस संकल्प के बाद भी यदि कोई दूसरा व्यक्ति सुखिया को ठीक यही सलाह देता, तो निश्चय ही, सुखिया बाघिन की तरह पलट कर यही उत्तर देती—'तुम क्यों नहीं पढ़ा लेते अपने लड़के को मुनीमी ? तुम्हारे लड़के के ही जी है......!'

असल में सुखिया के मन में हमेशा से यह आकांक्षा रही है कि वह अपने लड़के को अँगरेज़ी पढ़ाएगी और उसे टोप लगाए हुए साहब की तरह देखेगी। क्या ज्योतिषी का कहना सच न होगा कि हरी कुलदीपक होगा, पढ़ेगा-लिखेगा, ऊँचे ओहदे पर पहुँचेगा और एक दिन सुखिया के दरवाज़े हाथी झूमेगा ?—ज्योतिषी का कहना ज़रूर सच होगा !—सुखिया यही सब सोचती है।

"बेटा, टिक्स बुक किसी से माँग नहीं लेते, जिन लड़कों ने किलास पास कर ली है, उनमें से किसी से ?"—सुखिया ने कहा और हरी अपनी अम्मा के उच्चारण पर खिलखिला कर हँस रहा था।

जब हँस चुका, तो हरी ने माँ के सवाल का उत्तर दिया—'अम्मा, किताब नई बदली है।'

'कमबखत हर साल किताबें बदलते हैं,' सुखिया ने कहा। दरअसल शिक्षा-विभाग की इस कुप्रथा की बात सब कहीं और सब किसी को ज्ञात है।

'अम्मा, टैक्स्ट बुक, रोशनाई की टिकियें, शीशे की दवात और सोख्ता...', सोते-सोते हरी ने कहा और कहते-कहते वह गहरी नींद में सो गया। सचमुच बचपन एक नियामत है। वह ऐसी सफ़ेद चादर है, जिस पर कोई दाग़ नहीं जमता।

हरी सुख की नींद सो रहा था। सुखिया करवटें बदल रही थी। चिन्ताएँ उसे घेरे थीं। वह उसे खाये जाती थीं। फ़िक्र में नींद कहाँ ? जब बहुत कोशिशों के बाद भी सुखिया को नींद न आई, उसका मन अपनी चिर-संगिनी चक्की की ओर गया। पर कहीं हरी की नींद न खुल जाय, इस डर से वह चक्की की तरफ़ नहीं गई।

सुखिया के मकान के पीछे, जिन सेठ जी की हवेली है, वह इधर छः महीनों से जब से विधुर हुए हैं, रात-बिरात कम से कम एक-दो बार सुखिया

की नीची छत की ओर अवश्य ही झाँक लेते हैं। सुखिया के मकान की देख-रेख के लिए सेठजी यह कष्ट नहीं उठाते, बल्कि खुद सुखिया की ही देखभाल के लिए वह ऐसा करते हैं।

सुखिया को अपनी फ़िक्र में नींद नहीं, और सेठ जी को अपनी में। निशा नित्य से अधिक निस्तब्ध है, शव की तरह शांत।

सेठ जी देख रहे हैं सुखिया को नींद नहीं आ रही है; और वह सोच रहे हैं, शायद उन्हीं की वजह से सुखिया की आँखों में आज नींद नहीं।

'तुम्हारे लड़के को पढ़ाने का सब ज़िम्मा मैं लेता हूँ।' सुखिया सुन कर भय से सिहर उठी। उसके माथे पर पसीना आ गया। लेकिन उसके कानों में हरी जैसे कह रहा है—'अम्मा टैक्स्ट बुक!'—वह काँपने लगी और अपनी चारपाई से उठ कर लाज में गड़ी नीचे बैठ गई।

'तुम्हारे लड़के की पढ़ाई का सब खर्चा मैं उठाऊँगा। उसे दो सौ, चार सौ का नौकर करा दूंगा', कहते हुए, हाथ की चक्की का आटा खाने वाले सेठ जी, अपनी तोंद को सँभाले, सुखिया की छत पर उतरने लगे।

'अरे यह क्या पागलपन है! चुपकी रहो; नहीं तो दोनों की बदनामी है!'

रात शव की तरह निस्तब्ध और शांत है।

अगले दिन, सुबह होते सुखिया की चक्की ने प्रभाती गा कर लोगों को नहीं जगाया। उसकी चिर-संगिनी चक्की आज मौत का मातम मनाने वाले मन से अधिक निस्तब्ध है।. . .और उसका क्षुब्ध हृदय सागर की भाँति अशांत।

हरी ने सुबह उठते ही कहा—'अम्मा, टैक्स्ट बुक?'

टैक्स्ट बुक के लिए हरी को रुपए मिल गये और जब वह चाँदी की चमक से आँखें चमका कर, खुशी-खुशी स्कूल चला गया, मौत का मातम मनाने वाली सुखिया ठीक उसी जगह जा लेटी, जहाँ हरी के बाप ने शरीर छोड़ा था। और वह बेचारी मुँह ढाँक कर, सुबक-सुबक कर रोने लगी।

❋

सुंदर
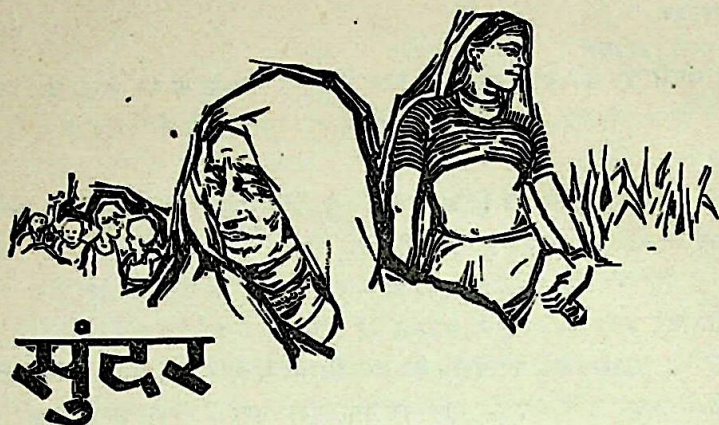
गाँव के पछाएँ छोर पर उनकी बाखर है। कहीं लोंद और कहीं गारे के सहारे चिपकी हुई बड़ी-बड़ी कच्ची ईंटों से बना हुआ वह बड़ा पुराना घर है, जहाँ कभी बहुत-से प्राणी रहते थे—गाय, बैल, भैंस, बहुत-से पौहे; और पौहों से मिलते-जुलते बहुत-से मनुष्य।

एक उसारे में आज भी किसी पुरानी बहली-मझोली के भग्नावशेष मौजूद हैं। किसान-धमान आदमी थे वह लोग, यहाँ इस घर में जिनकी राहिस थी। लेकिन किसी ज़माने में यह अच्छा खाता-पीता घर रहा होगा, आज अन्दाज़ से यही मालूम होता है।

अपने पुराने वैभव से नाता तोड़ कर यह उजड़ी हुई बाखर इस दशा को क्यों और कैसे पहुँच गई, हम पूरी तरह से नहीं जानते। जो आम तौर से सुना है, वह यह है—पहले इन बाखर वालों का बहुत बड़ा मौरूसी खाता था, चार हल की खेती होती थी, घर का कुआँ था। खेती के आठ बैलों के अलावा, एक मझोली की जोट भी थी, जो इर्द-गिर्द के गाँवों में सरनाम़ थी। ब्याह-शादी में जब दौड़ होती, तो यह जोट अच्छे से अच्छे ज़ोमदार बैलों को नहीं जाने देती थी। पाँच-पाँच भेली की शर्त बदी जाती थी, पर पछाईं बाखर की इस जोट से किसी के बैल आगे नहीं निकल सके। गोरी बधिया और मुण्डे खैल्ले का स्थान गाँव के इतिहास में आज भी है। फिर धीरे-धीरे लोग मर-खिर गये—कुछ साधारण छोटी बीमारी में, कुछ ताऊन की महामारी में। जो बचे-खुचे, वह काले मूँड़वाली

अपनी-अपनी घरवालियों के साथ एक-एक कोठरी लेकर न्यारे होने लगे। बँधी बुहारी बिखरने लगी। चाही ज़मीन खाकी होने लगी और अन्त में कल्लर-बंजर के सहारे, इस घर के लोगों को लगान पटाना तक मुश्किल हो गया। किसी ने अपने हिस्से की ज़मीन बटाई-चुटाई पर दे दी, तो कोई बीज बखेर कर परमात्मा के आसरे, दो दानों की आशा में बैठ गया। कर्ज़ से कमर टूटने लगी। दो-एक बाखर वाले लाई-पताई के सहारे रहने लगे और एक-दो जने गाँव छोड़ कर शहर चले गये, जहाँ मेहनत-मजूरी से धेली-पावली कमा कर, वह अपनी गुज़र करते थे। इस तरह यह गुलज़ार और खुशहाल बाखर उजड़ गई।

खेमा, उसकी विधवा वृद्धा बहन और क्वारी लड़की इस खँडहर के मोह को आज भी नहीं छोड़ सके हैं। एक बूढ़ी भैंस है, और यह रान-जहान टूटा-फूटा मकान है।

सुबह होते ही खेमा बाखर के बाहर, अपने गिरते-पड़ते चबूतरे पर पुरानी फ़रशी को ले कर आ बैठता है। पीतल की फ़रशी पर उतना ही मैल है जितना खेमा के दाँतों पर—दोनों ही एक से पीले हैं। वृद्धा बहन दूध बिलोती है और लड़की आँचल में कभी कपास या कभी अनाज ले कर बाज़ार की ओर निकल जाती है, और तीमन-तरकारी या मिर्च-मसाला या और दूसरा सौदा-सुलुफ़ ले कर घण्टों बाद लौटती है।

लड़की छरहरे बदन की, लम्बे क़द और गोरे रंग की है। उम्र होगी सोलह-सत्रह साल। ज़्यादातर गुलाबी लहँगा और पीली ओढ़नी पहनती है। काठी और नक़्शा निर्दोष हैं। सचमुच सुन्दर है। उसके अंगों की, उसकी आँख-नाक की अलग-अलग तारीफ़ करना, उसकी ख़ूबसूरती का इस तरह से बखान करना, उसके सौन्दर्य को कम करना और उसकी ख़ूबसूरती को बट्टा लगाना है। उसे देख कर किसे आश्चर्य न होगा कि वह खँडहर की किसी दरार में किसी अनजाने फूल की तरह वहाँ न जाने कहाँ से पैदा हो गई है!

और भी आश्चर्य होता है यह सोच कर कि अपनी सुन्दरता पर न उसे गर्व था और न गाँव वालों को ही वह चकित करती थी। भरे हुए लम्बे चेहरे वाली, बड़ी-बड़ी आँखों और ऊँची पतली नाक वाली, तसवीर में खिचे-जैसे ओठों और ठोड़ी वालीं, कनक-छड़ी-सी छरहरे बदन वाली, हँसमुख वह सुन्दर लड़की अपने उभरते और निखरते यौवन को सहज भाव से लिये घर-बाहर, गाँव और जंगल में हिरनी की तरह उछलती फिरती थी, कुदान मारती थी, खल-खल हँसती थी और फिर भी गाँव को आलोकित करने वाली धूप और

चाँदनी अप्रतिभ नहीं होती थीं, जब कि वास्तव में अपनी सब चमक-दमक के साथ भी, मैले कपड़ों से ढकी हुई उस सुन्दर लड़की से वह समता नहीं कर सकतीं।

उसका नाम क्या था, हम नहीं जानते। उसे हम सुन्दर ही कहेंगे।

सुन्दर को पा कर गाँव ने अपने को कभी धन्य नहीं माना। पास-पड़ोस और आन-मोहल्लों की युवतियाँ और वृद्धाएँ जल-भुन कर, दाँत पीसती हुई कहतीं—'कहाँ से आ गई है रे यह बछेड़ी हमारे गाँव में! जब देखो तब चटकती-मटकती, सैना-बैना चलाती घर-द्वार, गाँव-बाहर उड़ती फिरती है बेसरम! धरती माता, न जाने कौन-सी पल्लौ पड़ेगी?'

बिरादरी-आनबिरादरी के लोग भी तरह-तरह की बातें करते और खेमा पर फ़बतियाँ कसते थे। खेमा को भी वह भार बन गई थी। क्वारी लड़की को वह ग़रीब कब तक घर में बिठाएगा?

गाँव के लौंडे-लपाड़े उसे खेत-खलियान और गली-गलियारे में छेड़ते थे, हाथा-पायी करते थे—जैसे वह ग़रीब छीना-झपटी और लूट-पाट की ही चीज़ हो। दो-चार लोग भद्दे इशारे करके, पैसा-धेली के बल पर उससे मनमानी करते, हँस-हँस कर आपस में उसकी चर्चा करते, जैसे उस ग़रीब का कोई मूल्य ही नहीं।

परचूनी छिद्दा और चुन्धे छज्जू हलवाई का तो जैसे उस पर इजारा था। फेरी वाले खिच्चू बजाज ने भी उसके साथ नेकी नहीं की थी। इस गाँव ने सुन्दर के प्रति इस प्रकार ही अपनी गुणग्राहकता का परिचय दिया था। इस प्रकार ही सौन्दर्य के प्रति अंजलि दे कर सुन्दरता की देवी की उपासना की थी।

और सुन्दर? वह मिट्टी को फोड़ कर बाहर निकले हुए, डंठल पर टिके हुए और काँटों से घिरे हुए फूल की तरह हमेशा हँसती रहती थी, कीच-काँदों से अछूती रहती थी। पिशाचों की इस बस्ती या उसके अधिवासियों या अपने विधाता के प्रति कटुता के भाव भी तो उसके मन में न आते थे। इसके विपरीत वह अपनी सहज सुषमा के साथ, जैसे स्वभाववश सुन्दर से सुन्दरतर होती जाती थी।

क्वार का महीना शुरू हो रहा है। मक्का की खेती, भरी जवानी में खड़ी है। मक्का पर जो छर्रा फूट रहा है, तसवीर में रानियों के मुकुट-सा मालूम होता है। गिल्ली भर गई। भुट्टों से सफ़ेद और कत्थई रंग का सूत फूट कर निकल आया है।

ज्वार के फट्टे, बाँस से समता करते, खड़े लहलहाते हैं। बाजरे में बाल निकल आई है। जंगल से गाँव को जो बैल छोड़े जाते हैं, तो मुँछीके लगा कर—वैसे हरे के साथ मिला हुआ भूसा और चरी की कुट्टी खा कर बैल झिके पेट लौटते हैं और खेतों में मुँह डालने की उनकी इच्छा नहीं होती।

खेतों में सोंधी सुगन्ध वाली सेंदें कहीं लुकी-छिपी पड़ी हैं, तो कभी कहीं छोटे-मोटे मतीरे भी दिखलाई पड़ जाते हैं। बन (कपास का बन) में पुरी आ रही है और बहुत-से अगाए खेतों से तो कपास चुटने की भी आशा है। बीच-बीच में भिंडी की जो आड़ें लगी हैं, तुरई की बेले पड़ी हैं—वे फलती-फूलती जवानी के साथ जैसे अपनी उपयोगिता भी समाप्त कर चुकी है। अजगर की तरह पड़ी, बड़ी-बड़ी काशीफल की बेलें, ग्रामीण औरतों-सी, बड़े-बड़े पीले फूलों से सजी हुई दिखलायी देती हैं। भूसे से भरी हुई बुर्जियों पर लौकी की बेलें चढ़ी हैं।

पोखरे और तालाब लबालब भरे हैं और उनके किनारे खड़े हुए खेतों की परछाईं, शाम के समय बहुत ही सुहावनी लगती है। हरे-भरे हारों (खेतों के हल्क़ों) की शोभा का क्या कहना ? खेतों पर हरियल, तोता इत्यादि पक्षी और स्यार और विजार जैसे पशु टूटते हैं। गला-गला या होरा-होरा करते हुए रखवालों की सुरीली आवाजें गूँजती हैं और गोफन चटखते हैं।

मूँगे के रंग की गिजाई और ताँबे के रंग की भमीरी अब भी पोखरों के सहारे रेंगती और उड़ती दिखलाई पड़ती हैं। संध्याकालीन सूर्य की किरणें जब धरती-आसमान को रंगीन छाया से रँग देती हैं, तब जंगल का दृश्य कितना सुन्दर लगता है, यह कहना कठिन है।

ऐसे ही समय में सुन्दर सिर पर हरे का एक गड़ा रक्खे, गाँव की ओर मेड़ों पर होती हुई जब तालाब के किनारे आती है, उसकी छाया जल पर बहुत भली मालूम होती है। हलकी-हलकी लहरों पर लहराती हुई वह छाया, इठलाती हुई आगे बढ़ती और विलीन हो जाती है।

सुन्दर जब दो ऊँचे-ऊँचे खेतों के बीच से उनकी पतली मेंड़ पर से गुज़रती है, उसके सिर का बोझ धम से धरती पर गिरता है और वह अचानक आँखों से ओझल हो जाती है। मक्का और ज्वार के फट्टे सड़सड़ाते हैं, चूड़ियाँ खनकती हैं, कुछ घुसपुस होती है और फिर कुछ देर खेतों पर गहन शांति छायी रहती है। काफ़ी देर बाद वह मेंड़ के दूसरे छोर पर दिखलायी देती है।

न जाने कितने दिनों यह खेल जारी रहा, लेकिन फ़सल के कटते-कटते

और गेहूं जौ की बुवाई होते-होते बात सारे गाँव में फैल गयी। और यह भी जाहिर हो गया कि बेचारी सुन्दर संकट में है।

गाँव वाले अब उसकी खिल्लियाँ उड़ाते थे, लेकिन सुन्दर के मन में दृढ़ विश्वास था कि जिस बलिष्ट शरीर के सहारे उसने गहरी साँसें और सुख की उंसाँसें ली हैं, वह उसकी रक्षा करेगा; जिसके लिए उसने और सबको छोड़ कर अपना तन मन दिया, वह उसका साथ देगा। किन्तु सुन्दर को धोखा हुआ।

सुन्दर ने उत्सुकता से आँखें उठा, सन्तोष और शरम से चेहरे पर हलकी लाली दौड़ा कर, उसके कुछ और नज़दीक सरक कर, दबी ज़बान से उसे अपनी बात बतायी थी। किन्तु सुनने वाले की आकृति कठोर हो गयी थी—जिसका यही मतलब था कि सुन्दर और उसका प्रेमी अपना अलग-अलग रास्ता लें। क्या उसका प्रेमी उस राह चलती सुन्दरी को घर में बिठा सकता था!

ऐसी नाजुक हालत में वह अकेली थी, असहाय थी। बूढ़ी फूआ को छोड़ कर किसी ने उसके साथ सहानुभूति भी प्रकट नहीं की और केवल वह अनुभवी वृद्धा ही उसे संकट से उबार सकी। सुन्दर ने जीवन में पहली बार समझा था —जीवन क्या है, घृणा क्या है, सहानुभूति क्या है!

स्त्रियों के विद्वेष, पुरुषों की उपेक्षा, नाकारा पिता की अकर्मण्य उदासीनता और बूढ़ी फूआ के कड़े शासन के बीच, लांछन से दबी सुन्दर ने एक साल और पूरा किया। अब वह और भी बदल गयी। वह तपे हुए सोने की तरह कुट-पिट कर और भी निखर गयी।

क्वार का दूसरा पाख चल रहा है। बुवाई का समय है। सुन्दर के रंग की बरें (पीले ततइये) दीवारों की दरारों, किवाड़ों, दरवाजों में खुंभियों से और मोखलों से निकल-निकल कर उड़ रही हैं। उनके डंक बेकार हो चुके हैं और बच्चे यह जान कर धागों में फन्दा डाल, उन्हें पकड़ रहे हैं ताकि उनके साथ खेल सकें। चबूतरों और चौपालों पर, खेतों और खलियानों में कतकी नहाने के मनसूबे बाँधे जा रहे हैं। कोई-कोई तो अब छकड़ों और बहलियों और बैलों की जोड़ियों पर भी एक नज़र डाल लेते हैं, जिनके सहारे वह सकुटुम्ब कतकी के मेले में जायेंगे। कुछ लोग उधार-पानी की सोच रहे हैं। कुछ अपनी जाज़म सुखा रहे हैं, जिसका तम्बू बना कर वह गंगा की रेती में पड़ाव डालेंगे। ऐसे वक्त में एक दिन शाम को अचानक ही स्वामी जी गाँव में आ पहुँचे।

अब वह वृद्ध हो चले हैं। शरीर बहुत छीज चुका है। आँखों की ज्योति बुझने लगी है और सिर के बाल खिचड़ी हो गये हैं। इन्हें देख कर आज कौन

विश्वास करता कि ये ही खेमा के सब से बड़े दामाद पंडित दुलीचन्द हैं। दस बरस हुए, वह साधु हो कर निकल गये थे। तब से आज तक कभी इधर आये भी नहीं। कहा जाता है जब स्त्री मरी, खेत बेदखल हुआ, मवेशी नीलाम हुए और दो बच्चे भी एक-एक कर चल बसे, दुलीचन्द जी वैरागी हो गये। तभी से लोग इन्हें स्वामी जी कहने लगे थे। लेकिन दस बरस वह कहाँ रहे, क्या करते रहे, किस तरह और कैसे रहे—यह कोई नहीं जानता। आज अचानक ही इधर आ निकले हैं। साधुवेश नहीं है, फटेहाल हैं। मौत की ओर तेज़ी से बढ़ रहे हैं—यों उम्र पेंतालिस के पेटे में ही है।

सुन्दर ने अपने प्रेत-ऐसे जीजा जी को देखा, तो वह डरी। ज़ीजा जी ने परी-सी सुन्दर को देखा, वह मुग्ध हो गये—और फिर उसी साल जाड़े बीतते-बीतते, अठारहवें बरस में, सुन्दर की शादी इन स्वामी जी से हो गई। खेमा कृतार्थ हो गया और बूढ़ी फूआ ने भी गले की हँसली और पाँवों के कड़े बेच कर अपने मन की निकाल ली। गाँव की क्वारी लड़कियों को उसके भाग्य पर ईर्ष्या हुई, बड़ी-बूढ़ियों का बोल गुम हो गया।

पुरुषों ने कहा—'चलो अच्छा हुआ, ठिकाने लग गई।' पर किसी ने भी उसकी मौत पर आँसू नहीं गिराये। गाँवों का ऐसा ही चलन है!

स्वामी जी के दिन पलटे। वह फिर असासादार आदमी बन गये। सुन्दर के रूप में उन्हें भाग्यवान गृहस्वामिनी मिली।

पूरे छः बरस बाद वह गाँव में आई। चार-पाँच बच्चे साथ लाई—एक गोद में, एक अँगुली पकड़े, एक ओढ़नी का छोर पकड़ कर रोता-रींगता हुआ, तो एक पकड़ने की कोशिश करने पर भी हाथ न आने वाला। पाँचवा बच्चा पेट में! और जैसे इस सत्य की स्वीकृति के रूप में सुन्दर भी—अब वह सुन्दर नहीं रही—अपने विकृत चेहरे को बूदम की तरह ऊपर उठा कर हँस देती है। पास-पड़ोस की औरतें जो उसे घेर कर आँगन में बैठती हैं, उसकी चाटुकारी करती हैं, उसके सौभाग्य को देख कर, पेट में ऐंठन को दबा कर, सिहाती हैं। क्वारी लड़कियाँ अप्रतिभ-सी दूर खड़ी आँखें फाड़-फाड़ कर उसे देखती हैं। कहते हैं वह पति की प्यारी है; दूध-पूत से घर भरा-पूरा है, संक्षेप में यह कि वह साक्षात् लक्ष्मी है।

पेट मटका-सा, हाथ-पाँव सरकंडे-से और मुँह बँदरिया के समान निकल आया है। छातियाँ बेजान और बेरौरत हो कर लटक गई हैं। विश्वास करने को जी नहीं होता कि यह वही सुन्दर है।

पर अब तो घरों की बड़ी-बूढ़ी, बालक-नन्हीं बहू-बेटियों के सामने, सुन्दर

की नज़ीर पेश करती हैं। बहू-बेटी उसकी झूमर, माथे के बोलना और उसके छड़ों पर रीझती हैं। कहा जाता है वह सुघड़ है, सुतैवन है, घर सँभालती है, पति और बच्चों की देख-रेख करती है, उन्हीं के लिए ज़ीती है।

सुन्दर अब साकार लक्ष्मी है या सती, सीता या सावित्री है, हम यह सब नहीं जानते। पर एक बात निश्चित है कि सुन्दर अब सुन्दर नहीं रही।

दो पैसे की कितनी बिसात ! लेकिन बात दो पैसे की है, और एक दूसरे अर्थ में लाख रुपये की । क़हने का मतलब है कि यह दो पैसे की बात बिलकुल ही साधारण-सी हो, सो बात नहीं ।

हमारे शहर के प्रसिद्ध वकील और सूबे की कौंसिल के मेम्बर बाबू शारदा प्रसाद नारायण सिंह के जीवन में इस दो पैसे की बात का कितना महत्व है, यह बात मुझे उन्हीं की ज़बानी मालूम हुई । हज़ार चाहा कि उनकी बात पर विश्वास करूँ, लेकिन फ़िर भी साधारणत: सहज में विश्वास नहीं होता । मैं जानता हूँ कि एक सफल वकील होते हुए भी, लखपति होते हुए भी, और जिस अवस्था तक पहुँचते-पहुँचते भावुकता का लेश मात्र मन में नहीं रहता, उस अवस्था को प्राप्त होने के बाद भी, बाबू शारदा प्रसाद नारायण सिंह हमेशा झूठ नहीं बोलते ।

जैसा कि नाम से ही विदित है, बाबू साहब ज़मींदार हैं । आदमी सीधे हैं और झूठ बोलते वक़्त उनकी सहज स्वाभाविक और इधर कुछ वर्षों से स्थूल होती हुई आकृति, आज भी कुछ बदल-सी जाती है, जैसे मुट्ठी भर मीठे बादामों के बाद एक ज़रा से कड़ुए बादाम के दाँतों तले आ जाने से वे मुँह बिगाड़ लेते हों । इस दो पैसे की बात में झूठ का लेश नहीं, तर्क मुझे समझाता है । लेकिन मन तो तर्क की सिफ़ारिश के बाद भी, बहुत-सी बातों को सहज में ग्रहण नहीं कर लेता ।

इस कहानी को सुनाते हुए बाबू शारदा प्रसाद नारायण सिंह का मुख एक अद्‌भुत सारल्य और कैशोर की भावुकता से अनायास ही दीप्त हो उठता है । यह उनकी किशोरावस्था की कहानी है, जो एक फाँस की तरह, उनके मन में कहीं अटकी हुई, बार-बार रह-रह कर खटक जाती है ।

बात १९१९ की है, जब शाम के रंगीन बादलों की तरह, यूरोपीय महायुद्ध के बाद कुछ समय के लिए हिन्दुस्तान के जनसाधारण की आर्थिक दशा सहसा देखने में भली मालूम होने लगी थी और जब ब्रिटिश सरकार की तरफ़ से हिन्दुस्तान पर लादी जाने वाली अन्यायपूर्ण विनिमय की दर ने हिन्दुस्तान के किसानों की उस क्षणिक चमक-दमक को छीन नहीं लिया था। बाज़ार भाव बढ़े-चढ़े थे और मज़दूरी की दर भी कोई वैसी बुरी नहीं थी। किसानों के हाथों में रुपया उछलता था और साधारण मज़दूरों की आँखों में भी रुपए की चमक दिखलायी पड़ती थी, यद्यपि चढ़े हुए बाजार भाव के कारण रोज़ की खरीदारी के बाद, वे वैसे ही ग़रीब हो जाते थे, जैसे कि कल थे या आज हैं। उन दिनों हमारे चरितनायक बाबू शारदा प्रसाद नारायण सिंह शारदा बाबू कहलाते थे और बी. ए. की दूसरी साल के विद्यार्थी थे। शारदा बाबू के पिता गाँव के खाते-पीते सीरदार किसान थे, नौकरों से काश्त कराते थे, घर में पैसा ही पैसा दिखलायी देता था। दो दिन के बहुत से दौलतमंदों की तरह, उनका भी विश्वास था कि अँग्रेज़ बहादुर के राज में आप सोना उछालते हुए बेखटके कहीं भी जा सकते हैं। वे न जानते थे कि वह सोना जिसे वे उछालते फिरते हैं, उस बाज़ीगर का सोना है जो एक हाथ से उसे देखने का देता है और न जाने कैसे, दूसरे हाथ से छीन लेता है। शारदा बाबू के पिता के हृदय में अनन्य राजभक्ति थी, जो जर्मनी के विरुद्ध ब्रिटेन की विजय के समाचारों को सुन कर इधर और भी दृढ़ हो गयी थी। इसलिए वह अपने होनहार लड़के को अँग्रेज़ बहादुर की व्यवस्था में किसी ऊँचे पद पर आसीन देखना चाहते थे। उधर पिता जी की यह लालसा प्रतिदिन बलवती हो रही थी, और इधर हमारे शारदा बाबू खटाखट क्लास पास करते, छलाँग भरते हुए बी. ए. की दूसरी साल तक आ पहुँचे थे।

गाँव के गिर्दनवाह में शारदा बाबू का शोर था। डिप्टी होंगे, पुलिस के ऊँचे अफसर होंगे, न जाने क्या होंगे ! सभी कुछ हो सकते हैं; अपनी क़ाबि-लियत के बल पर क्या नहीं हासिल कर सकते ? इसी तरह की चर्चा दिन-रात शारदा बाबू के गाँव वालों के बीच चलती रहती। जब वे छुट्टियों में घर आते तो गाँव के लोग प्रतिदिन, पास के गाँवों के लोग शारदा बाबू के गाँव में हर शुक्रवार को लगने वाली पैंठ के दिन, उन्हें देखने आया करते। पूरब की ओर, उनके गाँव से ५० मील की दूरी पर रामपुरवा के ज़मींदार भीषम बाबू के कानों में भी इस चर्चा की भनक पड़ी। उनकी एक मात्र पुत्री अब विवाह योग्य हो चुकी थी, इसलिए वे सुयोग्य वर की तलाश में थे ही, कि आते-जाते

कई रिश्तेदारों और मोतबिर मित्रों ने शारदा बाबू की ख़बर दी। छुट्टियाँ ख़त्म होते-होते शारदा बाबू फिर कालेज में पहुँच चुके थे।

रिश्ते की बातचीत चली। शारदा बाबू के भावी श्वसुर अपने भावी दामाद को देखने के लिए आने वाले थे। उन्हें लाने के लिए शारदा बाबू को स्टेशन पहुँचना था, क्योंकि भीषम बाबू बड़े आदमी थे, शहर में उनका कोई नातेदार या मित्र न था। शारदा बाबू नहीं चाहते थे कि उनके भावी श्वसुर कहीं भटक जायें।

हमारे शारदा बाबू हमेशा से ही कुछ छोटे क़द के हैं। लेकिन मन उनका यही चाहता है कि लोग उन्हें कमज़कम मझोले कद का आदमी तो कहें। शायद श्वसुर साहब पर भी वह यह साबित करना चाहते थे, वर्ना ऐसी क्या बात थी कि उस ज़रा ऊँची एड़ी के जूते पर पालिश होते-होते वे इतने अधीर हो उठते, प्रतीक्षा में इतने बौखला जाते और बेचारे मोची पर इस बुरी तरह बिगड़ पड़ते।

बोर्डिंग हाउस के उस मोची में एक खास बात थी, जिसमें उसकी तत्कालीन लोकप्रियता का रहस्य छिपा था। जब सब कहीं चार पैसे में पालिश होती, वह मजदूरी में दो ही पैसे लेता। जूतों को खूब चमकाता था, पालिश भी असली लगाता था, कुछ लोग ताज्जुब करते थे कि क्या मोची को इस दर पर परता भी पड़ जाता होगा ? यह सच है कि अपने कुटुंब के भरण-पोषण के लिए, उसे इस मजदूरी से पर्याप्त पैसा न मिलता था। लेकिन इस कमी को वह दूसरी ओर से पूरी कर लेता। किसे विश्वास होगा कि उस मरघिन्ने मोची ने साइकिल वाले के साझे में भी एक व्यवसाय कर रक्खा था, जिसमें खुद उसका उत्तरदायित्व कमरों के बाहर पड़ी हुईं, बाबू लोगों की साइकिलों में जूते की छोटी-छोटी कीलों को चुभो कर रोज़ पंक्चर करना था। साइकिल वाले को ढेर से पंक्चर जोड़ने को मिलते, और हमारे मरघिन्ने मोची को भी अपना हिस्सा मिल जाता।

शारदा बाबू भारी बेचैन कदमों से कमरे का फ़र्श नाप रहे थे। स्टेशन जाने का वक़्त अनक़रीब था और मोची उनका ज़रा ऊँची एड़ीवाला वह जूता पालिश करके जैसे आज लाने वाला ही नहीं था। एक मिनिट बीता, दो मिनिट बीते, सीसे के डले ढलकते गये—मोची का कहीं नाम-निशान नहीं था। वाह रे मरघिन्ने मोची ! मारे लातों के साले का कचूमर निकाल दूँगा ! पैसे के नाम कभी एक कानी कौड़ी नहीं दूँगा ! शारदा बाबू के दिल में इसी तरह के भाव बवंडर की तरह उमड़ रहे थे। उधर ताँगे वाला आवाज़ पर आवाज़ लगा रहा

था। अंतिम चेतावनी भी दे चुका था कि अब ट्रेन मिले न मिले, ज़िम्मेदारी उसकी नहीं। गुस्से के मारे शारदा बाबू का खून खौल रहा था। अगर वह मर-घिन्ना मोची इतना घिनौना न होता तो शारदा बाबू उसका कचूमर निकालने के अलावा, उसका खून भी पी डालने का संकल्प कर डालते। शारदा बाबू क़रीब-क़रीब निराश हो चुके थे। उनका छोटा क़द कुछ और भी सिमट गया, जब उन्होंने घिसी हुई एड़ी के अपने पुराने जूते की ओर लाचार निगाह डाली।

लेकिन वह मरघिन्ना मोची आखिर आया, धीरे-धीरे रेंगता हुआ, जैसे पाँवों में दम नहीं। काले बादलों से ढके हुए शारदा बाबू के भाग्याकाश में सूरज चमका। 'अबे ओ मोची के बच्चे, पाँवों में जान नहीं ? जनवासे की चाल चलता है ! समझ रख, दोनों टाँगें तोड़ दूंगा।'—शारदा बाबू भभक पड़े। मर-घिन्ने मोची ने दौड़ लगाई। पहुँचा, और बाबू जी के क़दमों में बैठ कर पैरों के सामने जूते रख दिए, अपने सिर से बहुत दूर नहीं। सफ़ेद फुल्ली से ¾ हिस्सा दबी हुई, अपनी आँखों की पुतलियों में ज़रा-सी चमक लाते हुए ऊपर देखा ! बाबूजी को खुश करने के लिए भीषण पायरिया से सड़ते हुए मैले दाँतों और मसूड़ों के रखवाले दोनों मोटे-मोटे ओठों पर मुसकराहट दौड़ाने की कोशिश की, जो बेतरतीब बढ़ी हुई दाढ़ी और मूँछों के मोटे मैले बालों के बन में छिपे हुए खरगोश की तरह, कभी बाहर आती और कभी लुक-छिप जाती। दो पैसे की मज़दूरी करने वाला वह मरघिन्ना न जानता था कि बाबूजी की प्रतीक्षा का महत्व क्या है, रहस्य क्या है, रहस्य की गहराई क्या है ? भिड़भिड़ाती चुंधी आँखों से उसने फिर ऊपर देखा, मुसकराने की कोशिश की और कहा, 'बाबू तनि देरी होय गई रही। माफ करें, सरकार !' शारदा बाबू ने जूते पहने और मोची को धक्का दे कर गिराते हुए, बिजली या उल्का की तरह, चले गये। मोची सँभला, खड़ा हुआ और पीछे मुड़ कर देखने लगा। शारदा बाबू उसकी आँखों से ओझल हो चुके थे। हज़रत मूसा ने जिस तरह उस तूर के जलवे को न समझा था, हमारा मरघिन्ना मोची भी कुछ न समझ पाया शारदा बाबू के तपाक और तेवर के रहस्य को। वह शारदा बाबू को दूसरे ही रूप में देखता आया था। लेकिन शायद जिंदगी भर सैकड़ों बाबुओं के ऐसे ही सौ रंग देखते-देखते उसके हृदय में स्थितप्रज्ञ का-सा भाव आ गया था, जिसने उसे इस अवस्था में भी विचलित न होने दिया। जीवनमुक्त की तरह वह उठा, और अपने रोज़ के कामों में लग गया। बाबू लोगों के कमरों में पालिश के लिए जूते बटोरने और बाहर खड़ी हुई साइकिल में, नज़र बचा कर, कीलें चुभाने के लिए वह निकल पड़ा। वह इस छोटी-सी घटना के कारण दार्शनिक बन कर

नियमित कार्य को रोक देता, तो काम कैसे चलता ? बकरी की माँ खैर मनाये भी कब तक ? और जूते गाँठने वाले को लात खाने में ग्लानि क्यों हो ?

अगले महीने वह मोची कितनी बार शारदा बाबू के सामने पैसों के लिए गिड़गिड़ाता हुआ आया और झिड़कियाँ खाता हुआ चला गया, लेकिन शारदा बाबू ने पैसे न दिये, न दिये। रामपुरवा के भावी जमींदार को दृढ़ता की आदत डालनी थी और मरघिन्ने मोची से ही उस शुभ संकल्प का श्रीगणेश हुआ।

लेकिन बात यहीं खत्म नहीं हो जाती। घटना छोटी-सी थी, लेकिन शारदा बाबू उसे अपने चित्त से न हटा सके। दो पैसे की बात कोई भारी बात थोड़े ही थी, लेकिन न जाने क्यों वह शारदा बाबू के दिल में कहीं भार बन कर बैठ गई थी—वह उसे भुला न सके। गर्मी की छुट्टियों और विवाह-शादी के बाद जब शारदा बाबू फिर कालिज में लौटे, बोर्डिंग हाउस में उन्होंने कई बार उस मरघिन्ने मोची की तलाश कराई। उस छोटे से कीड़े को, जिसे वे पैरों से रौंद चुके थे और जिसे प्रतिशोध में तुरंत डंक मारने की न आदत थी, न शक्ति, उसे वे क्यों खोजना चाहते थे ? उसके लिए यह कैसी उत्कंठा ? लेकिन इन बातों का उत्तर शारदा बाबू आज तक नहीं दे सके।

जब से शारदा बाबू ने दूसरे नये मोची की ज़बानी सुना है कि वह मरघिन्ना मोची, चोरी के इलज़ाम में दो महीने की जेल काटने के बाद निकला और फिर बीस-पच्चीस दिन के भीतर हैज़े की बीमारी से मर-खप गया, तब से शारदा बाबू की बेचैनी कुछ और भी बढ़ गई है।

वैसे तो दो पैसे की बिसात ही कितनी है ! लेकिन शारदा बाबू, ¾ हिस्से सफ़ेद फुल्ली से ढकी हुई पुतलियों वाली, उस मरघिन्ने मोची की निरीह आँखों को; उसकी करुण दृष्टि को और पायरिया के पीव को पी-पी कर मोटे होने वाले ओठों की लाचार मुसकान को हज़ार कोशिशें करने पर भी न भुला सकते थे। वे इस बात को दिल से न निकाल सके कि वे मानवता के उस दलित कीट के प्रति दो पैसों के देनदार हैं। उन दो पैसों से वह कीड़ा समाज और संसार में न प्रतिष्ठा पा सकता था, न धनवान हो सकता था, न उसकी गिनी हुई साँसें ही हिसाब से ज्यादा बढ़ सकती थीं। वह खुद मरने से बहुत पहले ही इसी लोक में (यहाँ नहीं तो परलोक में तो निश्चय ही) इस दो पैसे की बात को भूल चुका होगा। शायद वह अब उस लोक में शारदा बाबू को पहचान भी न सके, शिकायत करना तो दूर की बात है। फिर शारदा बाबू इस छोटी-सी बात, इस दो पैसे की बात को न जाने भुला क्यों नहीं पाते ? धन-धान्य, स्त्री-संतान, मान-प्रतिष्ठा और जीवन में सफलता से सब ओर से घिरे रहने पर भी; और

भावुकता की उम्र से बहुत दूर, चालीस के उस पार पहुँच जाने पर भी, शारदा बाबू उस ज़रा सी बात को भूल नहीं पाते।

जीवन में लेना-देना तो लगा ही रहता है। शारदा बाबू ने हज़ारों के वारे-न्यारे किये हैं। जीवन से पाया भी खूब है और दूसरी ओर सार्वजनिक कामों में या व्यक्तिगत रूप से दान-पुण्य और कारज-व्यवहार में जी खोल कर खर्च किया है, फिर भी दो पैसे की ज़रा-सी बात को शारदा बाबू न जाने क्यों भुला नहीं सकते ?

उन्होंने मुझ से डरते-डरते (डर इस बात का कि कहीं मैं उनकी हँसी न उड़ाऊँ और उन्हें कोरा भावुक या बना हुआ आदमी न समझूँ) इस ज़रा सी बात को कितने ही ढंग से बार-बार कह कर सुनाया है, जैसे यह छोटी-सी कहानी ही उनके जीवन की कहानी है। मैंने उन्हें कई बार समझाया कि समंदर में एक मुट्ठी धूल डाल देने से न समुद्र ही सूख जायगा और न ज़मीन ही डूब जायगी। फिर बात भी दो पैसे की ! अरे यह भी कोई बेचैनी का कारण है ? हममें से क़रीब-क़रीब सभी लोग छोटी-मोटी बातों में बहुत से अन्याय करते हैं। रेलवे, बिजली कंपनी, हस्पताल और ऐसी ही बहुत-सी संस्थाओं से अपने अधिकार के बाहर दो-चार पैसे की, रुपये-दो रुपये की जीत ही कर लेते हैं, और फिर ऐसी बातों का ख़याल भी नहीं करते।

कौन ऐसा है जिसने बहुत सी बातों में, रुपये-पैसे के मामलों में, कोताई या गैरइंसाफ़ी न की हो और जो दुनिया के सामने किसी न किसी रूप में देनदार नहीं ? आदमी आदमी है, देवता नहीं।

रोज़ हज़ारों बातें होती हैं, उनमें से अगर सब छोटी-छोटी बातों को याद रक्खा जाय, तो स्वयम् जीवन की विशदता ही संकुचित हो जाय। लेकिन शारदा बाबू को इन दलीलों से शांति नहीं मिलती। वे कहते हैं, 'क्या मैं झूठ, फ़रेब, गैरइंसाफ़ी, बेईमानी या कोताई से बरी हूँ ? मुझे इन बातों की किसी क़दर आदत भी पड़ गयी है, जैसे मिट्टी-धूल में, धूप-ताप में और जाड़े-गरमी में रहने की शरीर को आदत पड़ जाती है। लेकिन, भाई, दो पैसे की उस देनदारी को मैं हज़ार बार भुलाने पर भी नहीं भूल सकता।

'कितने ही मोचियों को, मज़दूरों को और साइकिल वालों को मैंने चार की जगह छै पैसे दे दिये हैं, इस ख़याल से कि उसके हिस्से के दो पैसे शायद अब निपट जायें, लेकिन वह कर्ज़ चुकाये नहीं चुकता। मैं पढ़ा-लिखा, नये ख़यालात का आदमी हूँ, लेकिन मैंने आते-जाते जब कभी गंगा-जमना या कोई दूसरी नदी पार की है, यात्रियों से नज़र बचा कर अनेक बार जल में फेंक दिये

हैं दो पैसे । मैं जानता हूँ कि मेरा वह साहूकार, मरघिन्ना मोची मर चुका है। जानता हूँ मरने से पहले वह मुझे भूल चुका था और इस बात को भूल चुका था और परलोक में भी वह मुझे निश्चय न पहचान सकेगा । मुझे विश्वास है कि वह और साहूकारों की तरह सूदखोर नहीं है । बात भी छोटी-सी है, सभी के जीवन में ऐसी घटनाएँ हो जाती हैं । ज़िन्दगी की रगड़ से हम सब ऐसे घिस-मिड़ जाते हैं कि दिल पर घावों के निशान भी नहीं रह जाते; फिर यह तो उनके सामने कुछ भी नहीं है । पर फिर भी, मुझे लगता है कि मैं उसका देनदार हूँ, उसका प्रेत मेरे पैरों में बैठा हुआ है । ¾ हिस्से सफ़ेद फुल्ली से ढकी हुई पुतलियों वाली आँखों से, उन मोटे-मोटे भद्दे कुरूप ओठों से, उस बेतरतीब बढ़ी हुई बेहूदा दाढ़ी के एक-एक मोटे-काले बाल से, वह मुझे देखता है । क्या मैं उसे ठुकरा नहीं सकता ? ठुकराता भी हूँ । ठुकराया भी है । लेकिन, भाई, सच तो यह है कि चाहे मैं मारे लातों के उसका कचूमर निकाल दूँ, लेकिन यह बाज़ी जीता वह है, हारा हूँ मैं । वह चोर था, चोरी के इलज़ाम में जेल गया, बेईमानी से भी पैसा कमाता था, बदमाश था, लेकिन उसमें का वह बेबस असहाय मज़दूर, जिसकी निर्बलता में ही उसका बल था, उसे मैं नहीं भुला सकता ।

'यह सोचने से ही तो संतोष नहीं हो जाता कि उस चोर को दो पैसे न देने से दुनियाँ का कोई बहुत बड़ा अहित तो नहीं हो गया । शायद उन दो पैसों से वह भाँग ही ख़रीद कर पीता या अफ़ीम खाता या इक्के वाले को दो पैसे दे कर वह ताड़ीखाने की ही ओर जाता । सोचता हूँ कि अच्छा ही हुआ, मैंने उसे अप्रत्यक्ष रूप से कुछ देर के लिए इन चीज़ों से बचाया । लेकिन, भाई, मेरा मन नहीं मानता । सब कुछ सोचने पर भी मेरी देनदारी कम नहीं हो जाती ।'

जिस ट्रेन से हम सफ़र कर रहे हैं—मैं और शारदा बाबू, वह बेतहाशा दौड़ती हुई, नीचे लेटी हुई वसुंधरा को मज़बूत इस्पाती खोंपियों में भरती और छोड़ती हुई, द्रुत गति से दिल्ली की ओर बढ़ रही है, जहाँ मुझे किसी प्रकाशक से मिलने के लिए और शारदा बाबू को किसी खास राजकाज के सम्बंध में पहुँचना है ।

ट्रेन कुछ धीमी हुई । जमना का पुल आ गया । सिंदूर से पुते हुए, पुल के विशाल खम्भे आँखों के सामने आने और ओझल होने लगे, जैसे सहस्त्रों प्रेत सहसा एक साथ नाच उठे हों । शारदा बाबू उद्विग्न हुए, उनके मन में भी न जाने कैसी प्रेत-छायाएँ नाच उठी होंगी । एक अजीब भाव से उन्होंने डब्बे में चारों ओर देखा, जैसे वह मझधार में डूबते हुए किसी बज़रे में बैठे अपने साथियों

को गिन रहे हों। लेकिन वास्तव में उन्हें गिनने का होश थोड़े ही था, इसी से तो वह मेरी दृष्टि को देखते हुए भी न देख सके थे।

शारदा बाबू ने जेब से बटुआ निकाला और उसमें से दो पैसे हाथ में लिए। किसी दूसरी ओर देखते हुए, चुपके से अपना हाथ बाहर निकाल कर, उन्होंने वह दो पैसे नदी में फेंक दिए। गरमी में सूखी हुई जमना की धारा कृश थी, पर शायद उन दो पैसों की भूखी न थी। शारदा बाबू ने फिर नदी की ओर नहीं देखा। कौन जाने, पैसे नदी में गिरे या रेती में ?

काली बिल्ली

आज उसका जन्मदिन है—माता ने जैसा कभी बताया था, उस हिसाब से; उसने दूसरों को जैसा बता रखा था, उस हिसाब से नहीं। अब वह, अपने कहे के ख़िलाफ़, दोस्तों से कैसे कहे कि आज मैं अपने जीवन के सूनेपन को सहन करने में असमर्थ हूँ, मुझे नियति न जाने किस अज्ञात दिशा में लिये जाती है। इसलिए आज मिल-जुल कर उत्सव मनाओ, जिससे मुझे भी मालूम हो कि मेरा कोई है, मैं भाग्य के हाथों में एक असहाय खिलौने की तरह नहीं हूँ!

उसने अपने कमरे की खिड़की से बाहर देखा। देखा, शाम की लाली आसमान की नीलिमा में धीरे-धीरे घुल रही है। लो, वह चमकीला तारा भी निकल आया। वह कौन-सा तारा है? क्या शुक्र है? या बृहस्पति है? वह कुछ निश्चित न कर सकी, पर कुछ भूली-सी वह एकटक उसी ओर देखती रही—बहुत देर तक देखती रही।

सहसा उसे याद आया, जब वह पन्द्रहवें वर्ष को पूरा करके सोलहवें में पैर रख रही थी, तब वह अपने पिता के घर बग़ीचे में, किसी के साथ बैठी इस तारे को देखा करती थी।

उन दिनों का स्मरण करके श्यामा कुछ क्षणों के लिए हिल गई, उसके हृदय में हिलकोरे उठे और शरीर काँपने लगा।

श्रीविलास तब अठारह का था। श्रीविलास को ही उसने सबसे पहले और सबसे अधिक चाहा और प्यार किया था। और अनहोनी बात, उसी को श्यामा ने ज़िन्दगी में सबसे बड़ा धोखा दिया!

श्यामा को जैसे एक-एक कर सब बातें याद आईं, वह गड़-सी गई, मर-सी गई। चाहा कुछ रो ले, रो कर दम घुटने से अपने को बचाये और गले में

जो शीशे के टुकड़े अटक गये हैं, उन्हें निकाल फेंके। पर वह रोती कैसे ? किस मुँह से रोती ? जान-बूझ कर उसने जो कुछ किया था, उस अपने किये पर क्या उसे रोने का अधिकार है भी ?

घबरा कर उसने अपना मुँह फेरा। देखा, पास वाली छोटी मेज़ पर उसकी पालतू काली बिल्ली आ बैठी है—बैठी तो न जाने कब से है, उसे देखा उसने अभी है।

इस मखमली काली बिल्ली के काले-काले नरम मुलायम रोएँ खड़े हैं, उसकी चमकीली पीली आँखें कमरे के हलके अन्धकार में गन्धक के दीपकों-सी जल रही हैं। सिमटे हुए अपने झबरे शरीर के नीचे गद्दीदार पाँवों को दबाये बैठी है। शायद यह काली बिल्ली, श्यामा की स्नेह-दृष्टि की बहुत देर से प्रतीक्षा कर रही है। शायद श्यामा की उदासीनता, या असाधारण उदासी पर उसे आश्चर्य हो रहा है। कौन जाने ?

श्यामा बिल्ली की ओर मुड़ी और उसने दाहिने हाथ की लम्बी-पतली अँगुलियाँ फैला कर रोओं भरी मखमली गठरी में डाल दीं। उसने अपनी काली बिल्ली को चुमकारना चाहा, दुलराना चाहा और अपने इस साथी के साथ कुछ देर मन बहला कर मन के भार को हलका करना चाहा। पर बहुत देर तक वह अपनी जगह पर न टिक सकी। श्यामा उठी और अपने शयनकक्ष की अलमारी के सामने कुछ देर खोई-सी खड़ी रही, जैसे भूल गई कि वह वहाँ आई क्यों थी।

फिर वहाँ से हट कर श्यामा मेज़ के दराज़ से चाबियों का गुच्छा लाई, अलमारी के ताले की कुंजी तलाश की और अलमारी को खोला। इस छोटे-से कारागार से जो गन्ध निकली, उसने जैसे कह दिया कि अलमारी इधर बहुत दिनों से खोली न गई थी।

अलमारी में बहुत-सी चीज़ें अस्त-व्यस्त पड़ी हैं। कुछ किताबें हैं, फ़ाइलें हैं, अलबम हैं। और कुछ चाँदी के या निकिल के गुलदस्ते हैं, कसौटी पर परीक्षा किये हुए सोने की लकीरें खिंचे हुए जैसे किसी विचित्र पत्थर के दो पेपरवेट (कागज दबाने के बाट) हैं। इनमें से लगभग सभी भेंट में दी हुई चीज़ें मालूम होती हैं।

देखने वाले का पहला क़यास यह होगा कि श्यामा आज अपने असली जन्मदिन को, बहुत-से झूठे जन्मदिनों के स्मृति-चिह्नों को देख कर ही, शायद मन बहलाना चाहती है। पर यह अन्दाज़ ग़लत है। उसने उन चीज़ों की ओर देखा भी नहीं। नीचे के दराज़ को खोलने के बाद, उसने एक पुरानी

कापी निकाली और उसे खोल कर भीतर से एक बहुत पुराना धुँधला-सा चित्र निकाला। चित्र श्यामा का नहीं, श्रीविलास का है। आज भी विलास के सुन्दर अक्षरों में, उसके एक कोने पर लिखा हुआ है—"अपनी श्यामा को"! नीचे लिखा है "विलास"! विलास, श्रीविलास का प्यार का नाम है। "अपनी श्यामा को"—इन शब्दों के नीचे लिखा हुआ "विलास" लगता है, जैसे कोई प्रेमी याचक अपनी प्रेयसी के सामने घुटने टेक कर बैठा, प्रेम की याचना कर रहा हो।

चित्र अब धुँधला हो गया है। और उसके साथ की न जाने कितनी सुखद और अत्यन्त दुखद स्मृतियाँ धुँधले कुहरे-सी उसे घेरे हैं। श्यामा के माँगने पर ही संकोचशील विलास ने श्यामा को यह चित्र दिया था। अँगरेज़ी नाटकों और उपन्यासों में जैसा कहा जाता है, उसी ढँग से एक घुटने के बल बैठ कर विलास ने श्यामा को यह भेंट दी थी और फिर मुस्करा कर श्यामा का हाथ चूम लिया था। श्यामा संकोचशील विलास के मधुर विनोद पर मुग्ध हो कर हँस दी थी। उसे अब भी अनायास ही हँसी आ गई। श्यामा ने चकित हो कर अपने चारों ओर देखा।...तो खुद वही हँसी थी, श्यामा ने सोचा।

अब और भी ज्यादा ग़म्भीर होकर वह उस चित्र को एकटक देखती रही और कुछ देर बाद एक साथ फूट-फूट कर रोने लगी। श्यामा की हिचकियाँ बँध गईं, आँसू की खारी धाराएँ मुँह में आने लगीं। आँसू की कुछ बूँदें उसे सटकनी भी पड़ीं। वह सिसक-सिसक कर जैसे कह रही थी—'विलास मैं मूर्ख थी। मैं जीवन को और संसार को न समझती थी। देखो, मुझे माफ़ करना।'

आँसू से भरी आँखों से श्यामा चित्र की ओर देखती रही। उसे लगा जैसे विलास की आँखें भी आँसुओं से उमड़ आई हैं। श्यामा ने चित्र रख दिया। वह अपनी काँपती हुई टाँगों पर खड़ी न रह सकी और अपने पलँग पर गिर पड़ी।

सिसकियों और हिचकियों के बीच, आँसुओं को निगलती हुई वह कहती जाती थी—'विलास, विलास, मैंने तुम्हें धोखा दे कर संसार में सदा धोखा ही खाया है। मैं खुद भी अपने को धोखा देती रही हूँ। मैं धोखे पर ही तो जीती हूँ। मेरी आत्मा का भोजन धोखा है। विलास, तुमने तो कहा था, आत्मा का भोजन सत्य है। बताओ, विलास, सत्य क्या है? तुम तो कभी झूठ न बोलते थे।

ये युगलकिशोर प्रेम के बंधन में बँध गये थे; एक दूसरे के सहारे रहते थे; सदा इसी तरह रहेंगे और एक दूसरे के हो कर ही जीवन बिताएँगे, दोनों ने संकल्प किया था। और फिर चंचलमति श्यामा ने धन-पद-मद के लोभ से,

व्यक्तित्व के विकास के लिए साधन जुटाने के बहाने, विलास के साथ विश्वास-घात किया था। यही संक्षेप में इन दोनों की कहानी है।

श्यामा को रोते-रोते होश आया तो उसने संतोष की साँस ले कर निश्चय किया कि अच्छा ही है विलास आज संसार में नहीं है, कि वह अनेक प्रवंचनाओं और लांछनों से कलुषित अपनी श्यामा को न देखे, यही अच्छा है। ओह, वह कितनी भटकी है, उसने कितनी ठोकरें खाई हैं, धन-पद-मद के सम्मुख उसने कितनी बार घुटने टेके हैं और कितनी बार वह इनके द्वारा ठुकराई गई है! आज उसका जीवन खोखला है, उसका संपूर्ण अस्तित्व ही आज एक धोखा है!

श्यामा तितली-सी फूल-फूल पर घूमी है। कितने ही विशाल भवनों के स्वामियों की याचना पर वह वहाँ की शोभा बढ़ाने गयी है। उसके पीछे कितने प्रेमी याचक घूमते रहे हैं। पर क्या महत्व था उन काग़ज़ के फूलों का ? क्या महत्व था उन बने हुए लोगों के स्नेह-सत्कार का ? टेनिस के खेल में—'ओह, वंडरफ़ुल, एक्सेलैंट, चार्मिंग, सो लव्‌ली ऑफ़ यू !' कहने का ? उन धूर्तों ने कितनी ही बार तो उसे पढ़ी-लिखी वेश्या समझा था !

'सॉरी ! थैंक यू ! हाउ डू यू डू ?' निरर्थक ही थे न ये शब्द ! ओह, कितने झूठे थे वे प्रेमी याचक, जिन्होंने उससे याचना की थी, उसे अपना सर्वस्व बताया था और बाद में जो उसके बारे में बढ़-बढ़ कर बातें करने, उसका उपहास करने तक से न चूके थे ! वह सब कितने घृणित थे, जिन्होंने उसे पतन के मार्ग पर बुलाया, रास्ते की फिसलन पर गिराया — उसे क्या से क्या बनाया ... !

श्यामा ने चौंक कर अपने हाथ-पाँव और अपने शरीर को देखा। ओह, घृणित देह ! कैसे-कैसे धूर्तों की बाँहों में बँधी है यह, किस-किस की अंकशायिनी हुई है ! क्या यह देह वास्तव में कभी विलास जैसे देवदूत को आकर्षित कर कर सकी थी ? . क्या सचमुच ? ... पर कैसे ? ... यह कैसे सम्भव हुआ ?

पर श्यामा इस विचार को सहन न कर सकी कि वह विलास के प्रेम के योग्य न थी, कि वह उसकी घृणा के योग्य है ! — वह घायल हिरनी की तरह कराह उठी — हे ईश्वर !

वह चौंकी। कौन हँस रहा है उस पर ? क्या कहा, उसे ईश्वर का नाम लेने का भी अधिकार नहीं है ! उसने अपने आपको सँभालने की कोशिश की। तो क्या खुद वही जैसे बेहोशी में अपने आप पर हँस रही थी ?

जब आधे घण्टे की झपकी के बाद वह अँगड़ाई ले कर उठी, श्यामा ने

देखा उसकी तबियत सँभली हुई है। उसके अहं ने फिर अपने आपको सँभाल लिया है।

नगर के प्रतिष्ठित नागरिकों में उसकी गणना है, वह एक शिक्षण-संस्था की अध्यक्षा है। क्लब, सभा, सोसाइटी में लोगों की उत्सुक आँखें उसकी प्रतीक्षा करती हैं, उत्सुक आँखों के स्वामी उसकी नाज़बरदारी करते हैं! अपनी प्रतिष्ठा के विरुद्ध यों दुर्बलता दिखाना श्यामा को अरुचिकर और अनावश्यक लगा।

उसके कमरे में अँधेरा है। उसकी काली बिल्ली, ईश्वर की लीला की ही तरह, अन्धकार में छिपी हुई बैठी है। उसकी चमकीली आँखें जल रही हैं। बिल्ली जैसे सोच रही है—मेरी मालकिन का मन आज मुझ से ऐसा क्यों उचट गया है? और श्यामा ने भी जैसे अपनी बिल्ली की शिकायत को समझ कर उसे प्यार किया, गोदी में उठा लिया। उसने बिल्ली को दुलराया, प्यार किया, झुक कर चूमा और छाती से लगाया। शायद इतने प्यार से काली बिल्ली को उसने पहले कभी नहीं दुलराया था। सब दिशाओं में गतिरुद्ध प्रेम, जैसे इस ओर सहसा, असाधारण वेग से उमड़ पड़ा था।

नौकरानी आई। उसने बिजली जलाई। गृहस्वामिनी को देख कर वह चौंकी और फिर सँभली और सूचना देकर चली गयी कि खाना मेज़ पर लगा दिया गया है। श्यामा जैसे असाधारण स्नेह-भाव से उसकी ओर मुसकराई। श्यामा को इस क्षण न जाने क्यों यह ध्यान आया कि उसकी यह छोटी-सी गृहस्थी—वह, उसकी बिल्ली और उसकी नौकरानी कितनी सुन्दर, कितनी सुखी गृहस्थी है!

हाथ-मुँह धोने के लिए वह ग़ुसल में गयी। कुछ गुनगुनाने भी लगी। ख़ाली-ख़ाली मन जैसे भर गया। क्या वह अपने में पूर्ण नहीं है? आज बीती बातों का मूल्य ही क्या है? संसार उसका भी तो है?

उसकी दृष्टि खिड़की से बाहर गयी। देखा, वही उज्ज्वल तारा जैसे उसकी आँखों की राह उसके अन्तस्तल को भेदने का प्रयत्न कर रहा है। वह फिर चौंकी और उसका आत्मविश्वास जैसे उसकी टाँगों के साथ फिर हिल गया।

वह तारा...! नहीं, नहीं, यह विलास नहीं है। वह उसका निर्दोष सुखद बचपन भी नहीं है। यह तो कोई जड़ पिंड है, जड़ सूर्य की परिक्रमा करने वाला, अपनी निश्चित अवधि के बाद अपने आप ही बुझ जाने वाला,

जलता हुआ जड़पिंड ! पर वह जड़पिंड यों इतनी तीक्ष्ण दृष्टि से उसके हृदय को क्यों वेध रहा है ?

'विलास ! विलास ! मैं आज पूरे पैंतीस वर्ष की हो गयी—तुम तो जानते ही हो। अब बिना किसी के सहारे नहीं जिया जाता। मुझे किसी का आधार चाहिए। समाज का खोखलापन मुझे पसन्द नहीं ! मुझे तुम्हारी ज़रूरत है।'—श्यामा के कानों में ऐसे ही बहुत-से शब्दों की भनक पड़ी। वह बहुत देर तक खिड़की के सहारे जड़वत् खड़ी रही। आँसू से भरी आँखों को सकरुण भाव से ऊपर उठा कर, उसने किसी से पूछा—'क्या इतनी सज़ा काफ़ी नहीं है ?'

वह लौटी; देखा, बिल्ली अपने हिस्से का खाना खा कर चली गई है। जूठी रकाबियों में अपना कुछ निशान भी छोड़ गयी है। श्यामा का हिस्सा रक्खा है, पर श्यामा की इच्छा खाने को न हुई और वह भी अपने पलँग पर जा लेटी और सो गई।

श्यामा की आँखें एक बार रात को खुलीं तो उसने देखा काली बिल्ली उसकी ओर टकटकी लगाये देख रही है, न जाने कब से ! श्यामा उठी और उसने बिल्ली को अपनी गोद में लेना चाहा। बिल्ली एकाएक उछल कर हट गई, जैसे सिर्फ़ एक बार स्वामिनी से आँख मिलाने की ग़रज़ से ही वह वहाँ बैठी थी।

इधर महीनों से श्यामा अपनी काली बिल्ली के लिए परेशान है। बिल्ली की उसने सब कहीं खोज की है। पर उसकी खोज-ख़बर किसी से नहीं मिली। कहा जाता है बिल्ली घर के मालिकों को न सही, घर को तो पहचानती है। पर वह बिल्ली उस रात इस घर से ऐसी निकली कि वहाँ फिर कभी नहीं लौटी।

❀

शीराज़ी

शीराज़ी ने अपने बलिष्ठ शरीर को झोंका दे कर, अपने आप को सीधा किया और फिर मुड़ कर उस पुकारने वाले की ओर देखा। बड़े ताज्जुब से उसने जवाब दिया—ओ हो ! तुम हो मसीता काका ?

मसीता काका का पोपला मुँह आधा खुला था और उनके ओठों पर संकोच की एक हल्की-सी मुस्कराहट थी। किसने सोचा था कि वह और शीराज़ी यों बन्दरगाह के मुसाफ़िरख़ाने में बरसों बाद मिलेंगे। लम्बा-तगड़ा शीराज़ी, यह वही शीराज़ी है, जो उनके गाँव में छुटपन से जवानी तक पला था, वही आवारा शीराज़ी, वही शराबी शीराज़ी, राजा साहब की ईरानी रखैल का लड़का, वही शीराज़ी ! ईरान की भूमि में पैदा हुआ यह गोरा-चिट्टा शीराज़ी, मसीता काका के गाँव में बिखरी धूल-मिट्टी कीच-कादों और धूप-ताप से बिलकुल भी तो मैला नहीं हुआ था, बल्कि हम्माल की इस फटी-पुरानी नीली पोशाक ने उसके गोरे रंग को और भी निखार दिया है। हाँ, गालों पर भी वही लाली है।

शीराज़ी ने फिर अपने अगल-बगल देखा। पुकारा—झुनकू शेख, तुम भी हो !...और...और...शेर खाँ, तुम कहाँ छिपे खड़े थे ?

बाड़े से जैसे भेड़-बकरियाँ निकलती हैं, हज करके लौटे हुए यात्री भी जहाज़ के मुसाफ़िरख़ाने से निकल पड़े। कहीं किसी की खुली गठरी से—उनके अव्यवस्थित जीवन की तरह—चीज़-बस्त बिखरी पड़ी थीं, जैसे पुराने-धुराने

पिंजड़ों से अधमरे पंछी ढुलक पड़ते हों। कहीं किसी के पिचके हुए—ग़रीब के गालों की ही तरह—टीन के बक्स से भानमती के पिटारे क़ी झाँकी मिल रही थी। कहीं अपने बिखरे सामान की तरह, खोये-खोये से मुसाफ़िर अस्त-व्यस्त चीज़-वस्त की पाँतों में धँसे खड़े थे। उनकी तलाशी होनी बाक़ी थी।

हम्मालों की पाँत से वह भी एक हम्माल, हाजियों के एक छोटे झुंड की ओर लपका था। नहीं, किसी विशेष उत्सुकता से नहीं, यों ही रोज़ की आदत से। आँधी के बाद, जैसे आम तरकारी-बाज़ार में आते हैं, या जैसे बरसात की हुमस के साथ मच्छर या चैत के महीने में मक्खियाँ, हर जहाज़ के साथ वैसे ही ये डेक के मुसाफ़िर आते थे। शीराज़ी को उन्हें यों आते-जाते देखने की आदत-सी पड़ गई थी।

शीराज़ी किसी मुसाफ़िर की पेटी उठाने के ख़याल से झुका ही था कि उसकी दाहिनी बग़ल से किसी ने उसे पुकारा। ना, यह उसके किसी साथी का स्वर नहीं था—वह चुस्त-दुरुस्त करारा स्वर नहीं, जो वह अपने साथी हम्मालों से सुनने का आदी था। आवाज़ थी पोपले मुँह वाले मसीता काका की।

पास-पड़ोस के गाँवों के और दूसरे हाजी लोग उसी दिन रेलगाड़ी पर सवार हो जाना चाहते थे; लेकिन मसीता काका, झुनकू शेख और शेर खाँ को शीराज़ी ने दो-एक दिन के लिए रोक लिया। वैसे वे तीनों भी अपने साथी हाजियों के साथ जाने के लिए बहुत लालायित नहीं थे; कारण, इन तीनों को छोड़ कर बाक़ी सब ही खाते-पीते असासादार आदमी थे, परदेस में वह दुभाँत करते न चूके, सो अब देश में तो वह इन्हीं तीनों से गाड़ी में सामान रखायेंगे, स्टेशनों पर खाना-पानी मँगवायेंगे और न जाने और कैसी-कैसी गुलामी करवायें! और शीराज़ी? वह कैसा ही आवारा क्यों न हो, है तो एक ग़रीब मेहनतकश मज़दूर। दया उसके मन में है। शीराज़ी से उन्हें प्रेम मिला और उन्हें भी शीराज़ी के प्रति सहानुभूति हुई। उन्सियत की एक और भी वजह थी।

शीराज़ी का वतन, ईरान भी अब उनकी आँखों देखा है। ईरान! वह भी एक अजीब मुल्क है। लोग वहाँ सचमुच मलूक होते हैं, खासकर औरतें। और वह औरतें होती भी कैसी हँसमुख और मनचली हैं। तीनों सोच रहे थे, सरे-आम उनका हाथ पकड़ कर वह मसखरी ईरानी औरतें न जाने क्या-क्या कहती थीं :— . . . .

'आग़ा, खुशामदीद! . . . .

अज़ कुंजामी आयद? . . . .

आग़ा, शुमा हिन्दी अस्त ?
आग़ा, शुमा ख़ानम मी खाई ?
आग़ा, शुमा ख़ानम नमी ख़ाई ?'

और इन तीनों सीधे-सादे देहातियों के बुद्धूपन पर वह खिलखिला कर हँसती थीं। तब इनके मन में भी ख़ुशी के फ़व्वारे उछलने लगते थे। पोपले मुँह वाले मसीता काका के दिल में भी तो आइस-क्रीम गलने लगती थी।

इस शीराज़ी की माँ भी तो उन्हीं जैसी रही होगी। उसके बारे में यह कहावत, कि गले से उतरती पान की पीक दीख पड़ती थी, ज़रूर-ज़रूर सच रही होगी। मसीता काका की आँखों ने शीराज़ी की माँ को कभी देखा नहीं था। लेकिन आज वह मन-ही-मन ख़ुश थे, आँखों में उसकी मनोहर मूर्त्ति ढाल कर।

अवध के मशहूर शहर लखनऊ में चिड़ियों और दूसरे प्राणियों का सुन्दर वास, बनारसी बाग़ जैसा है, वैसा ही था अवध के मशहूर ताल्लुक़दार, राजा साहब का रनिवास। कहते हैं वहाँ हिन्दुस्तान के सब सूबों की ही सुन्दरियाँ नहीं, वरन् विदेशों से भी कई सुन्दर स्त्रियाँ उन्होंने रक्खी थीं। हिन्दुस्तानी स्त्रियों में उन्हें विशेष प्रिय थीं—सुदूर सरहदी सूबे की छरहरी लाँबी नाज़नीं, जिसकी भाषा जीवनपर्यन्त न राजा साहब ही समझ पाये, और न वह ही राजा साहब की भाषा को सीख सकी (पर प्रेम की भाषा दोनों समझते थे, समझते रहे और कभी न भूले); वह कर्नाटकी जिसकी अटपटी बोली में वही चटपटापन था जो दक्षिण की भूमि में उगने वाले मिरच-मसालों में होता है; कुमायूँ की गौरांगना नायक-कन्या जो अपने लिए हमेशा पुल्लिग-वाचक शब्दों के प्रयोग का मोह कभी न छोड़ सकी थी; बुन्देलखण्ड की वह कुमारी जिसकी मांस-पेशियाँ उस देश की चट्टानों की तरह दृढ़ और वहाँ की रातों की तरह ही कोमल थीं, बुन्देलखण्ड की तारों भरी रात के समान जिसका साँवला सलोनापन आँखों को चमत्कृत कर देता था; मालवा की कोमलांगी मालती, जिसके श्वासों में मादक सौरभ था—अहिफेन के मुकुल-फूलों को चूम कर बहने वाली वासन्ती हवा का, जिसकी भावनाओं को भरा-पूरा बनाया था वहाँ के मत्त पावस ने और जिसकी मन्थर-गति, मधुर वाणी और इंगित में साकार हो उठा था सम्पूर्ण मालव प्रान्त, इतिहास जिसकी मादक सुन्दरता का साक्षी है। स्थूलकाय अधेड़ पंजाबिन, जिससे उनका परिचय जीवन के उषाकाल में ही हो चुका था, वह आज भी रनिवास गुंजाती रहती थी। रसगुल्ले-से मीठे और गोल-गोल बोल बोलने वाली बनारसी बंगालिन भी उनके प्रारम्भिक पराक्रमों द्वारा ही जीती

हुई मणि थी—इस मौनिका नाम की गणिका के प्रति राजा साहब आज भी श्रद्धालु थे। किन्तु सर्वोपरि स्थान इन अवकाश-प्राप्त नायिकाओं में सदैव से बड़े बाप की बेटी, कुल-लक्ष्मी और गृह-स्वामिनी रानी साहिबा व्रजकुँवर को ही मिलता रहा। अधेड़ पंजाबिन तथा बनारस की मौनिका बाई और स्वयं रानी साहिबा भी उस श्रेणी में थी, जिस श्रेणी में उन स्त्रियों की गिनती होती, जिनके साथ राजा साहब प्रीति की रीति भर निबाहते। इस श्रेणी को वह श्रेय के अन्तर्गत रखते थे। प्रेय के अन्तर्गत आतीं देश-विदेश की वह सुन्दरियाँ, जिनमें से कुछ का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं।

देसी सुन्दरियों में एंग्लो-इंडियन वारांगना मिसेस कटलेट का उल्लेख करते हुए हम हिचके थे; कारण, कि यद्यपि मिसेस कटलेट का जन्म इसी भारत-भूमि में हुआ था किन्तु उन्हें भारतीय कहलाने से सख्त एतराज़ था। यह भी सच है कि राजकुमार की अँगरेज़ गवर्नेस मिस स्मिथ मिसेस कटलेट को हिकारत की नज़र से देखतीं और अपनी बिरादरी में न लेतीं; लेकिन फिर भी मिसेस कटलेट भारत-भूमि को अपनी जन्म-भूमि कह कर कभी गौरवान्वित न करतीं। हमारे लिए मिसेस कटलेट उस इन्द्र-धनुषी पुल के समान चिर-स्मरणीय रहेंगी जो भारत-भूमि को स्वर्गादपि विलायत-भूमि से जोड़ता था!

इस पार की भारतीय सुन्दरियों का उल्लेख हम कर चुके हैं। उस पार स्वर्ग की एक अप्सरा मिस स्मिथ का भी आप परिचय प्राप्त कर ही चुके हैं। उनके अतिरिक्त रनिवास में प्रमुख, शस्य-श्यामला-गोरी पिंडलियों वाली मदालसा यहूदी-कन्या थी, जो इटैलियन गायिका सिनौरिटा बौटिचैली से तो सदैव प्यार-मोहब्बत का बर्ताव करती, पर रस से अधिक पैसे की लोभिन फ्रांसीसी मदाम के बाल नोंचने पर हर घड़ी उतारू रहती। मोटी-ताज़ी जर्मन वीरांगना का ज़िक्र हम नहीं करेंगे, क्योंकि वह एक वर्ष भी रनिवास में जीवित न रह सकी। उसके कमरे में तुर्की महिला ने बसेरा किया था। तुर्की महिला की बग़ल में पेवड़ी से पीली और मोम से चिकनी त्वचा वाली चीनी तरुणी रहती और उसके पास रनिवास का वह हिस्सा था जहाँ सोने के तार-सी लचकीली देहवाली वह ईरानी युवती थी, जिसे राजा साहब अपनी पिछली विदेश-यात्रा के स्मृति-चिह्न के रूप में ले आये थे। उसे देख कर कौन कहता कि वह दो बच्चों की माँ है। निरी सोलह बरस की-सी दुबली-पतली इस हँसमुख कांचना ने सभी की आँखें चौंधिया दीं। काली-काली बड़ी पुतलियाँ, जैसे दिन की उज्ज्वल ज्योति का पान कर, यौवन की मस्ती में हँसती रहतीं। पुतलियों से भी काले केश, घने लहराते काले केश, आम की एक डाल से दूसरी

डाल पर फुदकते हुए मदमत्त मोर के वर्हभार-से लगते। और राजा साहव के हाथ और उनके नेत्र दिन-दिन भर, रात-रात भर उन केशों को दुलराने में ही लगे रहते। राजा साहव को यह ईरानी सुन्दरी सब से अधिक प्रिय थी; किन्तु वह रनिवास में सर्वप्रिय नहीं थी। रनिवास की सुन्दरियाँ, उसके अत्यधिक दुवलेपन की ओर कटाक्ष करते हुए, उसे खपंच कहा करतीं। राजा साहव उसकी तरफ़-दारी करते और जवाव देते कि हाँ, वह खपंच-सी लचकीली है ज़रूर; लेकिन वह खपंच है दूज के चाँद की।

राजा साहव के वारे में अवध के लोगों ने वहुत कुछ सुना था। मसीता काका ने और झुनकू शेख ने तो वहुत कुछ देखा भी था। शीराज़ी हम्माल अपने दोनों वलिष्ट कन्धों पर सामान लादे आगे-आगे चल रहा था। शेर खाँ उसी का हमउम्र, शीराज़ी से सट कर वत्ते मिलाता साथ-साथ जा रहा था और दोनों वूढ़े पीछे-पीछे लुढ़कते चल रहे थे। अपने जीवन में उन्होंने जो कुछ देखा था वह ख़्वाव वन कर आँखों में धुन्ध-सा छा रहा था और उन्होंने जो सुना था वह सब एक अनजाना अफ़साना वन कर, हाँफते हुए उन दोनों वूढ़ों के अध-खुले ओठों से आह वन कर निकल जाता।

विजली की रफ्तार से दौड़ती हुई मोटरों, चिघाड़-चिघाड़ कर भागने और भागते-भागते रुक जाने वाली ट्रामों, ऊपर विजली के तारों की छूम-छननन, वाजार की चहल-पहल, मर्दों के साथ कन्धा भिड़ा कर चलने वाली अँग्रेज और हिन्दुस्तानी मेंमें और सूट-वूटधारी काले-गोरे साहव—इन सवने मिल कर एक ऐसा ज़ोर का रेला मारा कि मसोता काका और झुनकू शेख के पिछले ख़्वाव और अफ़साने न जाने कहाँ गुम हो गये।

दोनों ने देखा हृष्ठ-पुष्ट उस अलमस्त शीराजी को, जो वैल के-से अपने मजवूत कन्धों पर सामान लादे सावुतक़दमी से बढ़ा चला जा रहा था। शीराज़ी के मुकावले, साथ चलने वाले शेर खाँ के पाँव कैसे खोखले-खोखले पड़ रहे थे। वड़ी सड़क से हट कर अब वह एक ग़रीब गली में घुस पड़े थे, जहाँ न मोटरों की आवाज़ थी न ट्रामों की और पत्थर की ऊबड़-खावड़ सड़क पर अब शीराज़ी के भारी वूटों से ठप-ठप की आवाज़ निकलने लगी थी। शीराज़ी के पाँव ज़रा भी तो नहीं हिचकिचाते। क्या यह वही लड़का है जो शराव में धुत नालियों में पड़ा रहता था? पोपले मसीता काका को याद आयी वीस वर्ष पहले की वह वात, जव कुँवर साहव की नयी हवेली की नींव खुद रही थी और शीराज़ी नीव की उन खाइयों में दिन-दिन भर नशे में डूवा पड़ा रहता। पन्द्रह साल के इस विगड़े हुए लड़के के प्रति किसी के मन में सहानुभूति नहीं

थी। लड़के उसे ढेलों से मारते, और नींव से खुदी मिट्टी उस पर डालते—शराब के नशे में चूर शीराज़ी को लड़के नींव में ज़िन्दा ही दफ़ना देते, अगर उन्हें कुँवर साहब की इस नाराज़गी का डर न होता कि खुदी हुई नींव को फिर से अटा देने पर वह शरारती लड़कों की खाल ही खिंचवा लेंगे।

फिर एक दिन कुँवर साहब ने शीराज़ी की इस क़दर पिटाई कराई कि प्रहारों की धू-धू आवाज़ सुन कर पास के हाते में वँधी हुई भैंसें भी रस्सा तुड़ा कर और खूँटा उखाड़ कर भाग निकलीं, कुत्ते भौंकने लगे। लेकिन शीराज़ी उस सबको सह गया—इतना ज़रूर हुआ कि उसका नशा काफ़ूर हो चुका था। उसने अपनी वड़ी-बड़ी आँखों से फिर कुँवर साहव को एक वार घूर कर देखा था, उनके मोटे-मोटे लाल कान की ओर सहसा उसका हाथ वढ़ गया था; दूसरे हाथ का थप्पड़ पड़ा था कुँवर साहव की थूथड़ी पर और उसके वाद शीराज़ी नौ-दो ग्यारह हो गया था।

हम सचमुच नहीं जानते इन पन्द्रह बीस वर्षों में शीराज़ी ने क्या किया और उस पर कैसी बीती। इतना ज़रूर जानते हैं कि वह लुक-छिप कर वीच-वीच में अवध के उस ताल्लुक़े की झाँकी लेता रहा है, शायद इसी वजह से मसीता काका जैसे भुलक्कड़ देहाती ने भी शीराज़ी को एक आन में पहचान लिया था। राजा साहब तव तक मर चुके थे। रनिवास—चिड़िया-घर का वह वड़ा पींजड़ा—खुलवा दिया गया था और उसकी सव चिड़ियाँ तितर-बितर हो चुकी थीं।

वह लोग शहर की गन्दी अँतड़ियों जैसी गलियों से गुजरते जाते थे और शीराज़ी हम्माल के ठिकाने तक पहुँचते जा रहे थे। सामने ताड़ी और देसी शराव की एक छोटी-सी दूकान थी, जिसकी ओर शीराज़ी ने वस मुड़ कर एक बार देख-भर लिया और आगे वनिये की दूकान पर सामान उतार कर रख दिया। दूकान के ऊपर जो छोटा-सा एक अट्टा है, वहीं शीराज़ी के मेहमानों ने डेरा डाला। यह शीराज़ी का निवास-स्थान नहीं, वह तो और दूसरे हम्मालों के साथ कहीं भी पड़ रहता है—सड़क के फ़ुटपाथ पर, जहाज़ के मुसाफ़िरखाने में या वहाँ, जहाँ उसके सींग समायें।

शीराज़ी ने हफ़्ता-भर मेहमानों की ख़ूब ही खातिर-तवाज़ह की, खिलाया-पिलाया और ख़ूब ही घुमाया। तीनों देहातियों का शहर में मन भी ख़ूब रम गया। रात को वह मज़दूरों की गाती-वजाती टोलियों में जा मिलते और दिन में सैर को निकल जाते या मज़दूरों के लड़ाई-झगड़ों और फ़ोश हँसी-ठट्ठों को देख-सुन कर मन बहला लेते।

शायद अभी वह यहाँ से चल देने का नाम भी न लेते, अगर मसीता काका अपने अधखुले पोपले मुँह से सहसा एक दिन यों न कह उठते — 'झुनकू दादा, ठंडक ... !' झुनकू शेख के घबरा कर पूछने पर मसीता काका ने अपनी खोजबीन का नतीजा कह सुनाया कि हाजियों को प्राणों से प्यारे, आवेज़मज़म से पाक किये हुए थानों में से दो थान गुम हो गये हैं। तब तो तीनों को थानों की चोरी का और हफ़्ते-भर की उस भरी-पूरी ख़ातिरदारी का रहस्य समझते देर न लगी। थोड़ी ही देर में झुनकू शेख और शेर ख़ाँ को यह भी पता चल गया कि तीन में से जो एक थान बच गया है, उसे पोपले मुँह के मसीता काका ने हथिया लिया है।

बचा हुआ थान किसकी मिल्कियत है, इसका फ़ैसला करने के लिए कशमकश शुरू हुई। तीन अभिन्न साथियों में हाथा-पाई की नौबत आ गई। तीनों ही चाहते थे कि मरने के बाद कफ़न बने आवेज़मज़म में पाक किया हुआ वह एक बचा-खुचा थान, वह थान जिसमें हाजी का सम्पूर्ण संचित पुण्य बसा होता है — आक़बत की सब आपदाओं से बचने के लिए वह थान ही तो छत्र बनेगा। जान भले ही जाये, पर आवेज़मज़म में डूबा हुआ वह थान हाथ से न निकल जाये।

सहसा इन तीनों की चीख़-पुकार बाहर के गुल-गपाड़े में डूब गई। जहाँ बोतलें तड़क रही हों, शीशे की आलमारियाँ फट रही हों, जहाँ शराबियों का शोरो-गुल हो, दसियों के सर फट रहे हों — जहाँ दो शराबियों के आपसी झगड़े ने हिन्दू-मुसलिम दंगे का भयंकर रूप धारण कर लिया हो, वहाँ इन तीन देहातियों की तू-तू मैं-मैं को कौन सुनता ? नक्कारख़ाने में तूती की आवाज़ बंद हो गयी। तीनों ने अट्टे के दरवाजे से मुँह निकाल कर देखा, सड़क पर ख़ून की फाग खेली जा रही है और भड़की हुई आग उनके नज़दीक, बहुत नज़दीक आ रही है। नीचे किसी दंगाई ने दूकान में बैठे हुए मोटे-झोटे लाला जी का टखना पकड़ कर बाहर खींच ही तो लिया। पीठ के बल धरती पर पड़े लाला जी के पेट पर वह मचक-मचक कर कूदने लगा, जैसे वह कोशिश कर रहा हो कि वर्षों से लाला जी उससे जो नफ़ा ले रहे हैं, वह उसे यहीं की यहीं उगलवा ले। सामने शराब की दूकान के सब अंजर-पंजर ढीले हो चुके थे। शराब की बोतलों में दमकनेवाला, पियक्कड़ों का रंगीन स्वप्न टूट चुका था, कीचड़ बन चुका था। ग़रीब पारसी दुकानदार माथे पर पड़े भारी गूमड़े को सहला रहा था और पास खड़ा नौजवान साक़ी, लतीफ़ अपने जबड़ों को पकड़े

नीचे बैठा था। सर की चोट का उसे ख़याल भी न था, जिससे ख़ून की एक पतली धार निकल कर सूख चुकी थी।

बनिये की दूकान लुट गयी और आग लगा दी गयी सब बचे-खुचे माल में। शीराज़ी हड़बड़ाता हुआ आ निकला। 'मसीता काका, झुनकू शेख़, उतरो, उतरो भाई। वरना तीतर-से भुन जाओगे'—वह चिल्लाने लगा और लगा जीने के किवाड़ें पीटने। न जाने कब तक यह तमाशा होता रहता अगर नीचे का धुआँ ऊपर तीनों देहातियों को अपना विषैला सन्देश न सुनाने लगता। मय अपने सामान के, वे देहाती निकले और उजड़ी हुई गलियों में, मौत के आसामियों की तरह, शीराज़ी के पीछे चलने लगे।

मुसलमानी बस्ती के नुक्कड़ पर पहुँचते ही मराठी हिन्दुओं के एक दल से उनकी मुठभेड़ हो गयी। भेड़-से बेवकूफ़ इन तीन दहक़ानियों की बचत का जब कोई और दूसरा रास्ता शीराज़ी को न सूझा तो उन्हें गली में ठेल कर वह दल के खुद दंगाइयों से आ भिड़ा, ताकि वह उन्हें रोके रहे और उसके तीनों मेहमान मुसलमानी बस्ती में पहुँच जायें।

घर-फूंक तमाशा देखने वाली पुलिस को, आख़िर जब तवज्जह इधर देनी ही पड़ी, तो फिर दंगे के शांत होते और आग बुझते देर न लगी।

मुसलमानी बस्ती के नुक्कड़ पर, नाली में पड़ी, शीराज़ी की भी लाश मिली। मसीता काका, झुनकू शेख और शेर खाँ ने शीराज़ी को पहचान लिया। कहते हैं आवेज़मज़म में पाक, उस बचे हुए एक थान ने गुनहगार आवारा शिराज़ी के सब गुनाहों को ढँक लिया। मसीता काका ने अपने हिस्से का संचित पुण्य शीराज़ी को दिया, अपने अधखुले पोपले मुँह से उस आवारे के गुनाहों की माफ़ी के लिए इबादत की और अपनी चुंधी धुँधली आँखों से मरे हुए उस आवारा को अंजलि दी।

❀

शिकवा शिकायत

पहर बीते, दीवाली के दिये, एक-एक कर पंक्ति से टूटते जा रहे हैं, बुढ़ापे के दाँतों की तरह। अमावस की अँधेरी दीवाली के दियों से कम नहीं हुई, बढ़ती जा रही है। सूने आसमान में, लंगर की तरह, कुछ कंदील लटके हुए हैं। और उनके ऊपर हैं, बहुत ऊपर हैं जगमगाते तारे। तारों की छाया में क़स्बा ऊँघने लगा है। जागते हैं हारे-जीते जुआरी, तिजोरी खोल कर लक्ष्मी की राह देखने वाले महाजन और साल भर के लिए सगुन बनाने की फ़िक्र में उठाईगीर और चोर। आज आवारा लड़के भी घूम फिर कर घर में आ बैठे हैं—होली-दीवाली को रात-बिरात घूमते हुए वह डरते हैं, क्योंकि इन रातों को अमली अमल करते हैं और तांत्रिक मंत्र फूंकते हैं।

हर चीज का एक केन्द्र होता है, जिसके चारों ओर वह नियमित गति से घूमती है, चक्कर काटती है। अणु-परिमाणु से लेकर सौर-मंडल तक, सभी की यही गति है। इसी गति का नाम जीवन है। और मृत्यु क्या है? कौन जाने! किन्तु जीवन नाम इसी गति का है। जीवन और मृत्यु के बीच की भी एक अवस्था होती है, जब गति भंग हो जाती है, चक्कर लगाने वाली वस्तु अपने क्षेत्र से छिटक कर कहीं दूर जा पड़ती है और अब उसका वृत्त अपने केन्द्र से पृथक हो जाता है। जो इस अवस्था को पहुँच जाता है, उसे जीवन्मृत कहते हैं। हमारा चन्द्रकान्त इन्ही जीवन्मृत लोगों की श्रेणी में है।

घर-घर दीपावली जली थी। चन्द्रकान्त के घर जली थी वही पुरानी लालटेन, जो नियमित रूप से रोज रात को जल कर उसके सूने घर के अन्धकार को दूर करने की कोशिश करती है। यह लालटेन, सात समुद्र पार से आई हुई

डीट्ज़ की जर्मन लालटेन, उसके जीवन की अँधेरी रातों की संगिनी यह छोटी-सी लालटेन उसके नज़दीक है। पर न जाने क्यों, इस जानी-पहचानी लालटेन ने उसे अनायास ही दीवाली मनाने वाली बाहर की दुनियाँ से दूर कर दिया है।

अपने कमरे की खुली खिड़की से वह धीरे-धीरे फीकी पड़ती हुई रोशनी को देखता है। उसी खिड़की की राह, और बुझते दीपकों के धुएँ-तेल की गंध को ढोती हुई हवा का कोई झोंका खिड़की के पल्ले को कभी-कभी खड़खड़ाता हुआ आ जाता है, जो इस बीमार आदमी के मन में तरह-तरह के भाव और विचार उपजा जाता है।

दीवाली की रात की हवा, दिल में गुलाबी सर्दी की गुदगुदी छिपाये हुए यह हवा उससे कहती है—देखो चन्द्रकान्त, अब गरम बिस्तर और कपड़े तैयार कराने का वक़्त आ पहुँचा है। ख़ुद तुम्हें ही अपनी फ़िक्र करनी होगी; तुम्हारी ख़बरगीरी करने वाला और है ही कौन ! और जब तक जीना है, तब तक तो यह सब करना ही होगा !

न जाने कितनी बातों की याद, उसके मन के आँगन में, धरती पर आसमान के बादलों की छाया-सी आती और चली जाती है। अनायास ही वह आह भरता है और कहता है—अरे, अब और जी कर मेरा होगा ही क्या ? और मैं जीना चाहूँ भी तो अब मैं हूँ ही कितने दिन का ! मन हार गया है, तन छीजता जाता है।

जब तक साँस है, तब तक आस है और यही आशा उसे अपने धीमे स्वर में जैसे आश्वासन देती है—क्यों नहीं अच्छे हो सकते ? शीघ्र ही स्वस्थ हो जाओगे, चन्द्रकान्त !

और यह जीवन्मृत चन्द्रकान्त फिर से जी उठने की सम्भावना से भय-कातर हो, काँप उठता है। वह अब और अधिक जीना नहीं चाहता। उसे जीने की इच्छा नहीं। बाहर की दुनियाँ में और उसमें अब पहचान भी कितनी बाक़ी रह गयी है, जिसकी ख़ातिर वह जिये !

तार टूटा नहीं। चन्द्रकान्त कुछ सोच रहा है, शायद पिछली बातें, उन दिनों की बातें जब वह जीवन्मृत नहीं, सचमुच जीवन्त था !

लाली छोटी थी—चन्द्रकान्त से क़रीब एक युग छोटी—बारह वर्ष। चन्द्रकान्त तो तब तक परिपक्व हो चुका था, मन और बुद्धि दोनों से। शायद इस तरह पक जाना कोई भली बात नहीं है; क्योंकि फिर तो शीघ्र ही मन का स्वास्थ्य बिगड़ने लगता है और मनुष्य मन का रोगी हो जाता है। किन्तु लाली

सचमुच छोटी थी और केवल इस अर्थ में ही नहीं, चन्द्रकान्त से हर तरह से अधिक स्वस्थ थी। इसीलिए यद्यपि उसके हृदय में प्रेम अपिरिमित था, वहाँ चन्द्रकान्त की ऐसी विकल प्यास न थी। अपनी भ्रान्तिवश वह सोचता था— लाली के हृदय में उसका ऐसा प्रेम नहीं।

लाली उसके जीवन में बहुत बाद को आई थी। चन्द्रकान्त का हृदय पहले ही खण्डित पात्र बन चुका था, और इसलिए प्यास और भी तीव्र हो चुकी थी। किन्तु खण्डित पात्र की प्यास को बुझावे कौन ?

फिर भी, लाली यदि चतुर होती, अनुभवी होती और चाहती तो वह चन्द्रकान्त को सुखी और सन्तुष्ट बना सकती थी। लेकिन कच्ची उम्र की इस बालिका को अपना ही खेल चाहिए था, वह खुद भी तो खिलना चाहती थी, यह उसकी उम्र का तकाज़ा था।

अपनी छोटी उम्र और अनुभवहीनता के कारण लाली ने एक ग़लती की। चन्द्रकान्त से उसने स्नेहार्द्र हो कर एक बार भी तो कभी नहीं पूछा— 'प्यास लगी है ?' अपने धनुषाकार ओठों पर कली-सी मुसकान खिला कर उसने मधुप को कभी भी तो प्यार से आमंत्रित नहीं किया।

वह रूपवती थी। रूपगर्विता होने का उसे पूरा अधिकार था, और इसलिए मानिनी बन कर अपना मान रखवाने का उसे हक़ था। छोटी उम्र की, उस सुन्दरता की पुतली को यह सब कुछ शोभा देता था। चन्द्रकान्त उसका मान रखता था, उसे अपना सर्वस्व देता था; किन्तु लाली को भी तो चन्द्रकान्त की भूख-प्यास का कुछ ध्यान रखना चाहिए था। वह स्त्री थी, स्त्री में माता निहित है; और इसीलिए जो स्त्री अपने कर्तव्य के इस अंश को भुला देती है, वह अधूरी है। उसकी भूल अक्षम्य है।

किन्तु इस छोटी उम्र की लाली ने तो सुन रखा था कि प्रेमी की प्यास कभी पूरी होनी नहीं चाहिए। उसे दीपक की लौ के आसपास घूमने वाले शलभ की तरह भटकाते रखना चाहिए। उसे यों अपनी मुट्ठी में रखना चाहिए। संक्षेप में, प्रेमी के मस्तक पर से प्रेमिका के चरणों के जावक का तिलक कभी मिटना नहीं चाहिए।

पर चन्द्रकान्त सदैव के लिए इस विधान से शासित होने वाले प्रेमियों में न था। वह प्रेम में, जैसे निष्कपट रूप से अपना सर्वस्व सौंप देता था, वैसे ही अपने प्रति भी वह प्रेम का निष्कपट व्यवहार चाहता था। मान-अभिमान, नाज़-नख़रा कितना ही हो, दुराव न हो, न सौदागरी हो, और न चतुराई की भावना हो।

इन विषम तत्वों के संघर्ष का फल यह हुआ कि दुनियाँ में कई बार ठोकरें खाया हुआ चन्द्रकान्त लाली से दूर हट कर अपने ही भीतर पैठता गया और इस क्रम में उसकी भावनाएँ भी उसके अभ्यंतर में केन्द्रीभूत होती गयीं। लाली उसे प्रेम नहीं करती, वह उसे इस योग्य नहीं समझती, वह अन्यन्त्र अपना विकास चाहती है — इसी प्रकार की भावनाएं उसके भीतर जड़ पकड़ती गयीं। और अन्त में अविश्वास ने उसके मन पर आधिपत्य जमा लिया।

लाली से वह दूर हटता गया और कुछ ही दिनों में वह उससे बहुत दूर पहुँच गया। लाली वहीं रही और उसके हृदय में चन्द्रकान्त के प्रति वही अगाध प्रेम भी रहा। विश्वास भी अपरिमित था कि आख़िर रूठ कर जायेंगे कहाँ; वह मेरे हैं। फिर भी अपने बचपने में वह चन्द्रकान्त को मनाने के लिए नहीं गयी, उसकी ओर एक क़दम भी आगे न बढ़ी। चन्द्रकान्त ? वह मुझ से नाराज़ थोड़े ही हो सकते हैं — वह यही सोचती थी। एक चन्द्रकान्त का ही तो उसे भरोसा था। चन्द्रकान्त को मनाने वह क्यों जाये, ख़ुद वही न आयेंगे उसके पास — वह उसके जो हैं, वह उनकी जो है !

किन्तु चन्द्रकान्त बहुत दूर जा चुका था, और विनम्रता के भीतर छिपा हुआ ज़िद्दी वह चन्द्रकान्त लाली के पास न आया, न आया।

बहुत दिनों तक तो लाली समझ भी न सकी कि माजरा क्या है ! लेकिन जब अनेक बार अपनी हार पर अविश्वास करने पर भी अन्त में उसे विश्वास करना पड़ा कि भाग्य ने चन्द्रकान्त को उससे छीन लिया है, तो वह आँधी के झोंकों को न सह सकने वाले दीपक की तरह, अचानक ही बुझ गयी। तब कहीं क्रोधांध चन्द्रकान्त की आँखें खुलीं। आँखें खुलीं, तो अँधेरे में।

उस वक़्त से आज तक उसके जीवन में जो घटनाएँ घटित हुईं, उनका परिणाम ही जीवन्मृत चन्द्रकान्त है। मन और शरीर से टूटा हुआ, एकाकी, शून्य में रहने वाला, जीवन से विमुख, मृत्यु की ओर उन्मुख चन्द्रकान्त !

चन्द्रकान्त अपनी चारपाई पर लेट गया। आँखें मूँद लीं। थके हुए रोगी को हलकी-सी झपकी आ गयी। और मुँदी हुई आँखें स्वप्नलोक में जा खुलीं, जहाँ सबसे आगे खड़ी थी लाली। इसके पीछे बहुत-सी छाया-कृतियाँ थीं, जो धुँधली हो कर विलीन हो गयी थीं। उसके सामने रह गयी थी केवल लाली —पूनों के चाँद-सी, जब तारे भी छिप-से जाते हैं।

लाली का रूप वही था, किन्तु अब वह पहला गर्व न था, जो उसे राजकुमारियों का-सा भृकुटि-विलास, मंद हास और दृष्टि-निपात देता था। उसके स्थान पर अब तपस्विनियों का-सा करुणा का भाव आ गया था, जिसके

सामने आगन्तुक की आँखें झुक जाती थीं। लाली की बड़ी-बड़ी आँखों में करुणा थी, चिवुक के छोटे-से गड्ढे में भी करुणा थी और धनुष-से ओठों से भी अब वही भाव प्रकट होता था — प्रत्यंचा अब वहुत खिंची हुई न थी।

चन्द्रकान्त अपनी रूपगर्विता मानिनी को यों न देख सका। उसका हृदय भर आया और उसने आर्द्र स्वर में पूछा — 'उदास हो, लाली ?'

लाली की आँखें छलछला आयीं, ओठ फड़के, किन्तु वह कुछ कह न पाई। चन्द्रकान्त ने लाली को अपनी ओर खींच लिया और वह सिर झुकाये, शरीर सिमटाये, चन्द्रकान्त के वक्षस्थल में छिप गयी। कुछ देर दोनों मौन रहे। लाली ने कहा — 'क्यों जी, मैं मूर्ख थी तो तुम तो बुद्धिमान थे। हम दोनों का जीवन व्यर्थ ही क्यों बिगड़ता ? मेरा गर्व चूर कर के तुमने क्या पाया ? हाय, यह न सोचा मैं गर्व किस पर करती थी ?'

स्वप्न विलीन हो गया और उसके साथ लाली भी चली गयी। उसने कितने प्यार से, कितनी शोखी से शिकायत की थी ! और चन्द्रकान्त उस शिकायत का जवाब भी तो नहीं दे पाया था !

वह अकेला है। किराये का कमरा है। काली लालटेन है। और आगे उसकी ओर बढ़ती हुई मृत्यु की काली छाया है जो दीवाली के बुझे हुए दीपकों से गंध चुरा कर, दबे पाँव उसकी ओर बढ़ी आ रही है। चन्द्रकान्त ने आगन्तुक से हँस कर पूछा — 'क्या सचमुच ले चलोगी मुझे लाली के पास ? इस बार मैं उसे शिकवा-शिकायत का मौक़ा न दूंगा।'

❀

प्रियम्वदा पांडे

प्रियम्वदा पांडे ! — नाम जितना ही भारी भरकम था, वह उतनी ही सूक्ष्म-शरीरा और दुबली-पतली थी। पसलियाँ गिन कर आप उसके दुबलेपन का अन्दाज़ा नहीं लगा सकते, क्योंकि वह रोगिणी न थी। इतनी फ़ुरतीली और स्वस्थ लड़की शायद ही कभी किसी ने देखी हो।

जीवन यदि प्रकाश है और मृत्यु अन्धकार; तो वह प्रकाश की पतली-सी लौ थी; और लौ भी ऐसी, जो अपनी स्फूर्ति के कारण एक पल भी स्थिर न रह सके। पान-इलायची, सौंफ़-सुपारी, शरबत-चाय-पानी, क्या लाए, किस तरह से ख़ातिर करे; उसे यही एक चिन्ता रहती थी। यह बात कई वर्ष पहले की है, जब प्रियम्वदा की उम्र १७ साल की थी।

मैं कहता — 'प्रियम्वदा ! तुम वास्तव में प्रियभाषिणी हो, मृदुभाषिणी हो, प्रियम्वदा नाम तुम्हारा सार्थक और उपयुक्त है; लेकिन यह पांडे क्या ? अजीब बेमौज़ू शब्द है ! नहीं, नहीं, तुम पाण्डेय भी नहीं लिख सकतीं — उससे तो तुम चोटी-तिलक वाले पण्डित सी मालूम होगी ... !'

वह सिर्फ़ हँस देती।

स्वाभाविक ही था कि ऐसी प्रियम्वदा से कवि सोमेन्द्र का स्नेह हो गया। एक सुकुमार, मृदुभाषी कवि के नाते प्रियम्वदा भी उसे चाहती थी। लेकिन क्या प्रियम्वदा भी सोमेन्द्र को उतना ही चाहती थी, जितना सोमेन्द्र प्रियम्वदा को ? हाँ; और नहीं भी।

मैं कहानी लेखक हूँ। मनोवैज्ञानिक कहानियाँ लिखता हूँ। फिर भी

हाँ ना में क्यों उत्तर दे रहा हूँ ? कारण, प्रियम्वदा कोई साधारण और सामान्य लड़की न थी। वह अपने लिए तो एक पहेली थी ही, दूसरों के लिए भी एक मनोवैज्ञानिक मुकरनी थी। वह जितनी ही सरल थी, उतनी ही जटिल भी। वह जितनी सच्ची थी; भाव और भाषा के स्वाभाविक, किन्तु अजान वैषम्य के कारण, उतनी ही अविश्वसनीय थी। क्या इस वैषम्य का कारण लज्जा थी, या कोई मानसिक गुत्थी, जो खुल नहीं सकी थी ?

यद्यपि उस दिन मैं ठीक-ठीक उत्तर न दे सकता था कि प्रियम्वदा सोमेन्द्र को चाहती है या नहीं, किन्तु यदि आज मुझ से कोई यह प्रश्न पूछे तो 'हाँ' के अतिरिक्त और कहूँगा ही क्या।

सामान्य स्त्री-पुरुषों के प्रेम और प्रणय में दुनियाँदारी और स्थूलत्व देख कर उसे 'प्रेम' से एक झिझक-सी थी और अपनी झिझक और स्त्रियोचित लज्जा के कारण, हृदय में कुछ बहकाव भी था। इसलिए जब मैंने पूछा कि क्या वह सोमेन्द्र को प्यार करती है, तो वह कुछ न बोली। और फिर मेरी ताना़जनी के बाद कि वह भी आजकल की पढ़ी-लिखी लड़कियों की तरह अपना मत स्थिर नहीं कर सकती और दूसरों की जान भी अज़ाब में डालती है, वह दबी ज़बान से बोली, 'ऐसा तो कोई व्यक्ति नहीं, जिसे मैं सशरीर स्वीकार कर सकूँ। लेकिन ...।'

'लेकिन वेकिन कुछ नहीं', मैंने बात काटते हुए कड़क कर कहा, 'मुझे यह अफ़लातूनी तर्क पसन्द नहीं। इसके कुछ मानी नहीं होते। मैं सोमेन को लिखे देता हूँ कि वह दुविधा में न रहे, तुम उससे विवाह करने को तैयार नहीं हो। उसे कष्ट होगा, लेकिन सच बात लिख देने में ही तुम दोनों का कल्याण है। और सुनो, प्रियम्वदा ! पर्याप्त मात्रा में प्रेम न होने के कारण ही शरीर के प्रति उपेक्षा का भाव होता है, इस बात को तुम अच्छी तरह समझ लो।'

वह कुछ कहना चाहती थी, लेकिन फिर किसी झिझक ने सहसा उसके मुँह पर हथेली रख दी। वह चुप खड़ी रही, मैं कमरे से बाहर हो गया।

मुझे बुद्धिवादी, तर्कवादी और मनोवैज्ञानिक होने का गर्व था। मैंने मन में निश्चित कर लिया कि प्रियम्वदा सोमेन को कभी प्यार ही न करती थी। वह तो केवल एक भावना को, एक कल्पना को प्यार करती थी। हाँ, सोमेन से वह घृणा नहीं करती, थोड़ा-बहुत उसे चाहती भी होगी—सिर्फ़ इतना ही ! इससे अधिक कुछ नहीं। पागल लड़की !

फिर दो वर्ष तक वह सोमेन से विवाह की चर्चा क्यों करती रही ? वह

विनोदशील फ़्लर्ट नहीं है, यह मैं निश्चित रूप से जानता था। मैं यह भी जानता था कि सोमेन के अकल्याण की भावना से या बढ़-बढ़ कर बातें करने के लिए वह वैसे पत्र लिखेगी, जिनमें राज़ न था, परदा न था, प्रेम था। उसने मुझे सोमेन के सब पत्र दिखलाए थे।

मुझे याद था एक बार जब सोमेन प्रियम्वदा की रुखाई से नाराज़ हो गया था, तो प्रियम्वदा से न रहा गया और उसने लिख ही दिया था—'सोमेन, यह न समझो मैं तुम्हें नहीं चाहती, तुम्हारा विश्वास नहीं करती। मैं वास्तव में तुम्हारे कवि हृदय को दुखाना नहीं चाहती, उसे नर्स करना चाहती हूँ।' स्नेह के बिना कौन ऐसी बात लिखेगा? लेकिन उसी स्थल पर उसने यह भी लिखा था—'लेकिन, सोमेन, मुझे और सब लोगों के जैसे संबंध, प्रेम-प्रणय से घृणा है।'

'लेकिन वेकिन कुछ नहीं,' मेरा हृदय जैसे गरज उठा, 'नासमझ लड़की! वास्तविकता को छूने से डरती है। सपनों की सेज पर सोने वाली इस बालिका को वास्तविकता के पत्थरों के फ़र्श पर पैर रखने से भी डर लगता है।'

मैंने अपने मन में निश्चय किया, प्रियम्वदा वास्तव में सोमेन को (निराकार कल्पना नहीं, बल्कि हाड़-माँस के सोमेन को) प्रेम ही नहीं करती। स्थूलत्व से घृणा का बहाना भी उन्हीं व्यक्तियों को करना पड़ता है, जिन्हें अपने प्रेमी पर तन-मन से पूरी भक्ति नहीं होती, साधिकार प्रेम नहीं होता, अन्यथा शरीर और आत्मा का परदा कैसा? और अफ़लातूनी प्रेम के आधार पर भला विवाह का उत्तदायित्व कैसे लिया जा सकता था?

मैंने इस भ्रम का अन्त करने के लिए और दोनों के कल्याण की भावना से सोमेन को सब कुछ समझा कर लिख दिया। सोमेन से धैर्य से काम लेने और मन में कटुता का भाव न लाने का अनुरोध कर, मैंने पत्र समाप्त किया; जिसका संक्षेप में यही मतलब था कि प्रियम्वदा और सोमेन की शादी न हो सकेगी।

आज मैं जानता हूँ कि यह मेरी ग़लती थी। लेकिन तब मैं और करता ही क्या? मैंने प्रियम्वदा का विश्वास किया। मुझे क्या मालूम था कि जो प्रियम्वदा मुझे अपने और अपने प्रेमी के प्रेम-पत्र (वे प्रेम-पत्र बहुधा नीति-शास्त्र और व्यक्तिगत तथा नागरिक स्वतंत्रता पर विवेचना-पूर्ण लेख भी होते थे) दिखाने में शर्म न करेगी, वह जीवन के सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न पर शरमा जायगी। शायद दोष प्रियम्वदा का भी न था। वह अपने हृदय की गहराई

को न जानती थी। शान्त सरोवर-से उसके हृदय में कितना पानी था, यह बात तो—संयोगवश, बीचों-बीच बड़े वेग-बल से किसी पत्थर के टूट पड़ने से ही—मालूम हो सकती थी।

दो दिन बाद प्रियम्वदा मुझसे मिली। उसने मुझे बुला भेजा था। वह बहुत घबराई हुई थी। शायद पिछली रात सो भी न सकी हो। शायद दोनों रातें आँखों में ही बिताई हों। मुँह उसका पीला था, पैर शिथिल। आँखें वैसी ही स्वच्छ—मुझे भ्रम हुआ, आँखें लाल नहीं, रोई क्या होगी ?

दबी ज़बान उसने पूछा—'भाई साहब, सोमेन के स्वाथ्य पर तो इसका बुरा असर न पड़ेगा ? कोई अकल्याण की बात...?'

मैंने गम्भीरता के साथ अपने दृढ़ स्वर में कहा—'सोमेन के स्वास्थ्य के विषय में तुम्हारी चिन्ता को मैं एक मित्र के हृदय से समझ सकता हूँ, लेकिन सोमेन को तुम शांति से ही रहने दो तो अच्छा है। इस मौखिक स्नेह से कोई लाभ नहीं, प्रियम्वदा ! शायद तुम्हारा ख़याल है कि सोमेन कवि है, भावुक है, आवेश में आ कर कोई ऐसा-वैसा काम न कर डाले ! तो यह जान लो, प्रियम्वदा, वह पुरुष है।' मेरे कहने के ढंग में रुखाई थी, वाक्यों में कटुता थी। प्रियम्वदा मर्माहत हो उठी होगी, लेकिन मुख नीचा किये, वह चुपचाप खड़ी रही।

वक़्त बीतता गया। कौन से ऐसे घाव हैं, जो समय से भर नहीं जाते ? कौन-सा ऐसा अभाव है, जो पूरा नहीं हो जाता ? सोमेन और प्रियम्वदा के बीच भी समय की सरिता नियमित रूप से वह रही थी। तट के तरुओं-से वे स्थिर प्रतीत होते थे। अनुभवी मनोवैज्ञानिक की भाँति उदासीन भाव से हँस कर मैंने कहा—'भावुक युवा-हृदय भी धीरे-धीरे समय की नियमित गति से प्रभावित हो ही जाते हैं।'

एक दिन मैंने अवसर देख कर प्रियम्वदा से कहा—'देखो, प्रियम्वदा, अब तुम अबोध बालिका नहीं हो। सुबोध को तुम जानती हो न ? वही, जिसका उस दिन मेरे घर तुम से परिचय हुआ था। इसी साल बैरिस्टर हो कर लौटा है। घर सम्पन्न है। विलायती बाबुओं और साहबों की तरह भी नहीं है। तुम्हारी भाँति आदर्शवादी है और सच्चरित्र भी। मैंने उसके साथ तुम्हारे विवाह की बात सोची है। तुम क्या कहती हो ?' प्रियम्वदा के मुँह से एक शब्द भी न निकल सका।

मैंने मौन को स्वीकृति का लक्षण समझा था—शायद ठीक ही। लेकिन सुबोध को शुभ संवाद दिया ही था कि एक दिन प्रियम्वदा ने घबराये, किन्तु

खुले स्वर में बिना झिझके हुए कहा —'भाई साहव, अभी इसी गाड़ी से हरद्वार जा रही हूँ। सोमेन, बहुत बीमार है। समय-समय पर अपनी कुशल-क्षेम की सूचना देते रहने का वादा करने पर भी उसने तो नहीं लिखा, लेकिन शारदा — हाँ, हाँ वही मेरी सखी, शारदा — उसने लिख भेजा है। वहाँ वह पड़ोस में रहती है। भाई साहब, अभी पत्र मिला है। तार नहीं दिया। थोड़ा-सा सामान सहेज कर ताँगे पर साथ ले आयी हूँ। आपको मुझे वहाँ पहुँचाना होगा।'

रास्ते में ज़्यादा बातें न हुईं। मैं विलकुल अंधकार में था कि आखिर इसका इरादा क्या है? क्या सोमवार तक हम लौट सकेंगे? सुवोध को भी तो सूचना देनी थी? लेकिन प्रियम्वदा से कुछ कहने-सुनने का साहस न होता था।

मुश्किल से मकान खोजा। शहर के कोने में कहीं छिपा हुआ, जैसा वह टूटा-फूटा मकान था, टूटे-से बड़े पलँग पर पाटी के सहारे लेटा हुआ वैसा ही सोमेन भी जर्जर-शरीर था। कपड़े गन्दे थे। कमरा अँधेरा था और एक अँधेरे कोने में बैठी हुई, सोमेन की माँ काढ़ा तैयार कर रही थी।

ज़रा देर को सोमेन की आँखें लग गई थीं, इसलिए हमने बहुत दवे पाँव प्रवेश किया था। सोमेन की माँ ने कुछ देर तक तो प्रियम्वदा को पहचानने की कोशिश की और फिर सहसा उठी, काढ़े में सने गन्दे हाथों को फैला आगे वढ़ी और प्रियम्वदा को गले से लगा लिया—'वेटी आगई तू? शारदा कहती थी, तू ज़रूर आयगी। सुमन से रोज़ कहती थी, वेटा चिट्ठी लिख दे, लेकिन उसने एक न सुनी, न कुछ जवाव ही देता था। आँखें भर लाता था और मुझसे अपने आँसू छिपाने के लिए चादर ओढ़ लेता था। फिर ज़रूर-ज़रूर बुख़ार वढ़ आता था। इसलिए मैंने कहना भी छोड़ दिया। शारदा ने लिख दिया, वेटी। ईश्वर करे उसका सुहाग अमर हो। मैं तो निरक्षर हूँ।' अन्तिम वाक्य वुढ़िया के रुद्ध कण्ठ से साफ़-साफ़ न निकल सका, लेकिन आँखों के आँसुओं ने रहा-सहा सब कुछ कह दिया था।

रात को जगदम्बा के पास बैठी हुई प्रियम्वदा ने धीरे से पूछा—'क्या शारदा आजकल यहाँ नहीं आती, माँ?' जगदम्बा ने स्थिर स्वर में कहा, जिसमें न क्षोभ था न शिकायत—'वेटी, ग़ैरों के यहाँ अपनी बालक-नन्हीं बहू को रोज़-रोज कौन आने देता है? लेकिन उसके पति रोज़ ही आते हैं। दवा-दारू वही तो लाते हैं, बेटी! बड़े ही भले आदमी हैं।'

सुवह हुई। प्रियम्वदा के भीगे खुले वाल उसकी पीठ और कन्धों पर पड़े

थे। उत्सुकता और बेचैनी से मेरा गला घुट रहा था, फिर भी कुछ पूछने की मेरी हिम्मत नहीं होती थी। क्या आपने भी किसी मुसीबतज़दा स्त्री के चेहरे की ओर देखा है ?

'नाश्ता करने के बाद आपको एक घन्टा और है। गाड़ी नौ बजे जाती है। चाचा जी से क्षमा माँग लीजिएगा और मेरी किताबें और कागज-पत्र भिजवा दीजिएगा,' प्रियम्वदा ने कहा। वह मुझे धन्यवाद क्या देती ? क्या मैं नहीं जानता, वह मेरे प्रति कितनी कृतज्ञ है।

'लेकिन सुबोध ? उससे क्या कहूँगा ? कैसे मुँह दिखलाऊँगा मैं उसे ?' ये प्रश्न मेरे अन्तरतम को अधीर कर रहे थे। फिर भी साहस न होता था कि मुँह खोलूँ। लेकिन आँखों में वे प्रश्न सहसा सजग हो उठे।

प्रियम्वदा फिर भी स्थिर रही। उसकी आँखों में पहली-सी झिझक न थी, सहसा कह उठी—'हाय ! भाई साहब, आप ऐसा सोच भी कैसे सके ? क्या मैं इन्हें छोड़ कर जा सकूँगी ?'

मैंने विदा ली और प्रियम्वदा की ओर पीठ फेरी। विचित्र पहेली का परीक्षण तो मनोवैज्ञानिकों को आकर्षक मालूम होता है; लेकिन जब उस पहेली की वजह से उन्हें शर्मिन्दा होना पड़े, तो उसमें अधिक आकर्षण नहीं रह जाता।

'अजीब है यह लड़की ? क्या इसके मुँह में पहले ज़बान न थी ?'—मेरे मन में रह-रह कर यही एक बात गूँज रही थी, लेकिन अन्तरतम से उसके कल्याण के लिए प्रार्थना कर और उसके अपराध के लिए उसे क्षमा कर, मैं घर की ओर चल दिया।

सुबोध की असाधारण भलमनसाहत की वजह से मैं मुँह दिखाने योग्य रह गया।

पन्द्रह दिन बाद प्रियम्वदा की चिट्ठी मिली। सोमेन को ज्वर न था। कमज़ोरी अज़हद थी। अतिसार ने सारा शरीर जर्जर कर दिया था, लेकिन कल अनायास ही हृदयगति के रुक जाने से माँ की मृत्यु हो गई थी। और इस सदमे से सोमेन को ज्वर का कहीं दूसरा दौरा न हो जाय, इस डर से प्रियम्वदा बेचैन थी। और घर का कुछ प्रबन्ध भी करना था, इसलिए उसने मुझे भी बुलाया था।

मैं दूसरे दिन हरद्वार पहुँच गया। किसे विश्वास होगा कि बुढ़िया पंद्रह हज़ार रुपया छोड़ कर मरी थी ? सोमेन के लिए वह इस रक़म को ज़िन्दगी भर सीने से लगाए रही। प्रियम्वदा के लिए उसने बीस तोला सोना छोड़ा था।

सोमेन और प्रियम्वदा का विवाह हुआ। मैंने विदा माँगी। प्रियम्वदा

की आँखें भर आईं—'भाई साहब, मुझे क्षमा कीजिएगा। मुझे आशीर्वाद भी देते जाइए।'

प्रियम्वदा के मुँह से इतनी बातें कैसे निकल सकीं, आश्चर्य था। वह पहली झिझक, वह झेंप, सब कहाँ गई ?

उसे भी आश्चर्य हुआ था, उस दिन जब मृतप्राय सोमेन के शरीर का उसने स्पर्श किया था—लेकिन तब तो सोमेन का शरीर निष्क्रिय था। 'शरीर' की ओर से जिस आक्रमण का, जिस स्थूलत्व का उसे भय था, वह सोमेन के शरीर में उस समय न था। हाँ, यदि स्वस्थ, सुन्दर शरीर होने पर भी यह शरीर इतना ही पाशवता-विहीन हो !—प्रियम्वदा ने तभी सोचा था।

सोमेन के खूब स्वस्थ्य होने के बाद, एक दिन शाम को दोनों गंगा के किनारे बैठे थे। छिपी हुई रजनी ने गंगा की शुभ्र धारा में अपना सोने का जाल बिछा कर लहरों की चंचल मछलियों की पकड़ने का उपक्रम किया था। किन्तु क्या समय की अबाध गति-सी गंगा की लहरों को वह तिमिरमयी रजनी पकड़ सकती थी ? चेतनाभूत जीवों की भाँति गंगा के ब्रह्मस्वरूप अन्तस्तल में, वे लहरें कुछ देर अठखेलियां कर, छिप जाती थीं। क्या उन्हें रजनी का जाल पकड़ सकता था ? फिर जीवन को भी मृत्यु से भय क्यों है ? वह व्यर्थ की आशंका क्यों है ? अणु-परमाणुओं में खेलता हुआ जीवन, जीवन के अन्तस्तल में छिप जाता है। मृत्यु के कर उसे पकड़ नहीं पाते, फिर जीवन को मृत्यु से भय क्यों ?

'क्यों, प्रिय, यदि मैं मर जाता तो ?'—सोमेन ने लहरों के इन्द्रजाल से आँखें हटाते हुए पूछा।

प्रियम्वदा की आँखें अभी लहरों में ही उलझी थीं। 'मैं जीवन की मृत्यु में विश्वास नहीं करती', उसने कहा।

क्यों प्रियम्वदा, तुम्हें मुझसे इतनी झिझक, इतनी लाज क्यों थी ? सच कहो, तुम्हें मुझ पर पूरा विश्वास नहीं ही था न ?' सोमेन ने फिर पूछा।

इस बार प्रियम्वदा की आँखें गंगा के वक्षस्थल से हट गयीं, जैसे किसी की आहट पा कर बर्फ़ पर बैठे हुए दो खंजन सहसा उड़ जायें।

डूबते हुए सूर्य की, अपूर्ण कामना से भरी चितवन के कारण या न जाने सोमेन के प्रश्न के कारण या न जाने अपने पिछले व्यर्थ के भय के कारण उसका मुख-मण्डल लाज से लाल हो गया। वह कुछ न बोली। मन में यही सोचती रही—'यदि कहीं पहले ही मुझे इस बात का विश्वास हो जाता कि तुम, मेरे देवदूत, इतने अशरीर हो जैसे भावना, फिर भी इतने ही जीवन-पूर्ण जैसे

प्रेरणा, और इतने ही स्थूलत्व-हीन जैसे पुष्प; तो क्यों मुझे वह व्यर्थ की झिझक होती ?'

पश्चिम में सूर्य डूब गया। निराश हो, रजनी ने अपना सोने का जाल हटा लिया और छिपे हुए अपने वातायन से प्रकट हो गयी। गंगा की लहरें मुक्त हो कर, नये रव के साथ वहने लगीं—उसे वही समझ सकता है, जिसने अँधेरी रात में नदी के वहते पानी के स्वर को सुना हो।

दोनों घर लौटे। क्या निस्सीम नील व्योम में स्वच्छन्द उड़ने वाली चिड़ियें सशरीर होते हुए भी, अशरीर नहीं होतीं ? तो क्या सोमेन और प्रियम्वदा का प्रेम आकाश की ही भाँति सुनील और निस्सीम न था, जिसमें वे दो प्राणी स्थूलत्वहीन पक्षियों की भाँति, केवल प्रेममय प्राण हो कर स्वच्छन्द विहार करते थे ? प्रियम्वदा को संशय न था, आशंका न थी। सोमेन को वासना न थी, अधिकार की भावना न थी।

यह बात नहीं कि प्रियम्वदा के हृदय में सोमेन के प्रति प्रेम की कमी थी। या अपने शरीर का समर्पण वह, आत्म-रक्षा के खयाल से, न कर सकी थी। किन्तु अपने देवदूत-ऐसे प्रेमी को वह हाड़-मांस-मिट्टी का शरीर कैसे देती ? यह वात नहीं कि प्रियम्वदा के शरीर में सोमेन के लिए आकर्षण न था —उसे प्रियम्वदा के रोम-रोम से अपार प्रेम था, किन्तु अपनी किन्नरी-सी प्रेमिका के शरीर पर अधिकार पाने की भावना को वह हृदय में कैसे लाता ? वे प्रेमी और प्रेमिका थे, स्त्री और पुरुष नहीं।

उसी वर्ष सोमेन के स्वास्थ्य के खयाल से, उन्होंने भारत-भ्रमण किया। हँसी-खुशी घर लौट आए। उसी रात प्रियम्वदा ने प्रश्न किया—'क्या दुनियाँ इतनी-सी ही है, सोमेन ?

सोमेन ने मुस्करा दिया, किन्तु अन्धकार में उसकी मुस्कराहट को प्रियम्वदा ने नहीं देखा। उसने फिर कहा—'क्या सो गए, सोमेन ?'

'न, प्रियम्वदा !'

'तो बोलते क्यों नहीं ?'

'कहना चाहता था कि अपने सुख में इतना विशाल संसार भी तुम्हें छोटा मालूम होता है; लेकिन फिर चुप हो गया', सोमेन ने कहा।

'हाँ, यही बात है, सोमेन !'—प्रियम्वदा ने कहा। और लम्बी यात्रा के वाद थके हुए वे, एक पथ के पथिकों के समान, गहरी निद्रा में सो गए।

शायद स्वप्न ने भी उस सुख-निद्रा में बाधा डालने की कोशिश नहीं की। विधाता ने तो कहना चाहा होगा कि प्रियम्वदा को संसार छोटा-सा लगता

है इसलिए कि अभी उसने सब कुछ देखा ही नहीं — दुनिया को भुला देने वाला सुख भी तो अविचल नहीं !

प्रियम्वदा का सुख अविचल न था। जिस सोमेन को वह एक बार यम के हाथों से, अपने सावित्री के-से प्रेम के कारण, छुड़ा लाई थी, उसे वह सब दिन अपने पास न रख सकी। पतिव्रता सावित्री के पास केवल प्रेम का ही बल न था; पत्नीत्व और सशरीर साहचर्य का भी उसे बल था। प्रियम्वदा सोमेन के शरीर को कभी न अपना सकी थी।

प्रियम्वदा की माँग का सिन्दूर धुल गया।

मैं उसे फिर चाचा जी के पास ले आया। उन्होंने प्रियम्वदा को पहले ही क्षमा कर दिया था। और हमेशा की तरह, आज भी उसी प्रकार उसे अपनाया।

प्रियम्वदा विधवा थी, लेकिन किसे विश्वास होता कि वह विधवा है ? कुछ भी अन्तर न मालूम होता था, तब और अब में।

किन्तु यह बात निकट से निरीक्षण करने वालों के लिए सत्य नहीं। मैं जानता हूँ कि उसमें क्या परिवर्तन हो गया था। वह जीवित थी, लेकिन जीवनी-शक्ति का खिलौना बन कर। जीवित थी, इसीलिए कि जीवनीशक्ति उसे जिलाए हुए थी। वह एक तिनके की तरह थी; आग में डाल दो, जल जाय; पानी में डाल दो, बह जाय। जीवनीशक्ति यदि उसे मृत्यु के हाथों सौंपना चाहती, तो क्या वह विरोध कर सकती थी ? व्यक्ति की चेतना के प्रथम अंकुर, विद्रोह को उसके हृदय से किसी ने निर्मूल कर दिया था। इसका कारण ?

जब उसने देखा कि सोमेन ही उसके पास न रह सका, तो फिर वह किसके लिए इच्छा रक्खे और किसके लिए अनिच्छा। लेकिन कारण केवल इतना ही नहीं। सोमेन को वापिस पाने के लिए तब वह सब कुछ दे सकती थी — शरीर, प्राण, सिद्धान्त, सत्य, प्रेम, सब कुछ ! जब सब कुछ दे डालने की भावना पैदा हो कर बलवती हुई तो, निजत्व का अहंकार — विरोध की भावना ही कहाँ रही ?

इस वर्ष भी बसन्त आया, लेकिन प्रियम्वदा के सुप्त निजत्व को वह न जगा सका। कोकिल कुहुक-कुहुक कर थक गयी, किन्तु प्रियम्वदा के हृदय में, वह चेतना के अंकुर न जगा सकी — आम और पीपल पीले-लाल पल्लवों से भर गए। कोयल की हूक से पलाश के उर में पुरानी बातें, हवा के हाथों से उकसाए हुए शोलों की तरह, धधक उठीं; लेकिन प्रियम्वदा की चेतना विस्मृति की भस्म से वैसे ही ढकी रही।

ग्रीष्म की शान्त शाम वियोगियों के हृदय में मिलन की याद जगा देती है, लेकिन प्रियम्वदा के लिए उसमें भी कोई विशेषता न थी।

आषाढ़ आया; और गाढ़े साँवले रंग के बादल, युगों से दबी हुई किसी की अतृप्त आकांक्षा की तरह, उमड़-घुमड़ कर आकाश में उठने लगे। उनकी छाया में वृक्षों की हरीतिमा गहरी होने लगी, जैसे बहुत दिनों बिछुड़े रहने के बाद, प्रियतम के सुखद चुम्बन के नीचे तरुणी के नयनों की श्याम पुतलियाँ श्यामलतर हो जाती हैं।

रात-रात भर की अटूट वर्षा से सुबह तक जल-जंगल एक हो जाते थे, जैसे दृढ़ प्रेमालिंगन में दो प्रेमी द्वैत का भाव भूल जाते हैं। पावस की मावस के साथ क्षणिक विद्युत-प्रकाश का खेल होने लगा। बिजली चमक कर विलीन हो जाती थी, जैसे आँचल का आश्रय छिन जाने पर और आततायी पवन को सामने खड़ा हुआ देख, पतली-सी दीप-शिखा घबराहट और भय से थर-थर काँप कर अपना सर्वस्व, अपना संचित प्रकाश उसे अर्पण कर देती है। प्रवासी यक्ष की आशा में विरह-विधुरा यक्षिणी की चेतना जग उठी होगी, किन्तु प्रियम्वदा को किस प्रवासी की आशा थी, जो उसे वर्षा के आगमन से चेत होता?

सितम्बर की रंगीन संध्यायें भी उसे न जगा सकीं।

धीरे-धीरे शरत् का चिंतामुक्त नील गगन अपने प्रसार को बढ़ाने लगा। सभी सचेतन प्राणी उसकी अकलुष नीलिमा में अपनी चिन्ताओं को डुबाने लगे, किन्तु प्रियम्वदा के लिए उसके पास कोई सन्देश न था। शरत्-पूर्णिमा का अमृत तृण-तरु पर बरसा, किन्तु प्रियम्वदा उससे वंचित ही रही। वह उसी संसार में थी, लेकिन उसमें उसका अपना था क्या?

निश्चेष्ट और चेतनाहीन मूर्ति की भाँति बैठी, वह दिन भर शरत् के नीले आकाश में बनते और बिगड़ते, प्रकट और लीन होते शुभ्र बादलों को देखा करती थी। मानसरोवर से उड़ कर दक्षिण की ओर जाते हुए हंसों के छूटे हुए दो-चार शुभ्र पंखों-से वे बादल जितने हल्के और विकारहीन थे, उतने ही निज-त्वहीन भी। प्रियम्वदा के निर्मल नेत्रों की भाँति वे भी निर्जल थे। उनका कोई विशेष रूप न था; प्रियम्वदा की भाँति वे भी अहंकार-रहित थे। जैसे प्रियम्वदा जीवनीशक्ति का खिलौना थी; शरत् के शुभ्र बादल हवा के खिलौने थे। अनेक रूप धारण कर, वे विलीन हो जाते थे। उनकी सफ़ेदी नीलिमा में घुल जाती थी, किन्तु प्रियम्वदा को इस क्रिया का ध्यान न था।

नदी के बहते हुए पानी को घंटों तक अपलक और निश्चल नेत्रों से देखते-

देखते क्या दर्शक के लिए गति गतिहीन नहीं हो जाती ? प्रियम्वदा भी तट पर बैठे हुए किसी दर्शक की भाँति ही थी। जीवन की अवाध गति ने अब उसे चेतनाहीन बना दिया था। उसे समय की अवाध गति निश्चल प्रतीत होती थी।

रोज़ सुवह चाचा जी के साथ वह घूमने जाती थी, लेकिन शायद ही कभी ऐसा मौक़ा आया हो, जब वह अपने चाचा के प्रश्नों का, सहानुभूति या विरोध के साथ, कुछ भी उत्तर दे सकी हो। जहाँ तक चाचा जी जाते, वह भी चली जाती थी; वे जव विश्राम लेते, वह भी बैठ जाती थी और जब वे लौटना चाहते, वह भी लौट पड़ती। कभी भी तो उसने नहीं कहा कि अमुक पुष्प सुन्दर है, कि वह उसे कुछ अधिक देर तक देखना चाहती है; या कि अब वह थक गई है, घर लौट जाना चाहती है। इसका यह अर्थ नहीं कि वह थकती न थी। थक ज़रूर जाती थी, किन्तु उस थकान से प्रियम्वदा को एक विशेष प्रकार का सुख मिलता था। उस थकान में संसार के साथ अनायास ही उसे सामंजस्य मालूम होने लगता था; उसे सामंजस्य की अनुभूति होती थी, जब थकान के शैथिल्य में सारा संसार उसे विशृंखल प्रतीत होता था। थके पैरों से जब वह घर लौटती, तो उसे मालूम होता, जैसे वह किसी अज्ञात पथ के पथिक-सी, युगों से चल रही है।

एक दिन चाचा जी से न रहा गया। 'बेटी, एक बात मानोगी ?' उन्होंने कहा; किन्तु गले की ख़ुश्की इतनी अधिक बढ़ गई कि उन्हें वहीं रुक जाना पड़ा। किन्तु अपनी इस असमर्थता के बावजूद भी, दूसरे ही क्षण उनका मन हलका हो गया, यह सोच कर कि अच्छा हुआ एक साथ सब कुछ नहीं कह डाला और अब इस अनिश्चित प्रश्न से प्रियम्वदा का रुख भी मालूम हो जायगा।

प्रियम्वदा ने चाचा जी की ओर देखा। उसकी आँखों में पूरा प्रश्न जानने की उत्कण्ठा थी और उससे भी प्रवल एक और भाव था, जिसका अर्थ मैं तो यही लगाऊँगा कि प्रियम्वदा का निजत्वहीन स्त्रीत्व जैसे कह रहा था— 'प्रियम्वदा क्यों न मानेगी आपकी बात ?'

अपने रुद्ध कण्ठ को एक बार साहस के साथ साफ़ कर, चाचा जी ने पाँच-सात वाक्यों में ही सब कुछ समझा दिया। दूसरे ही क्षण मन ही मन वे सोच रहे थे—'क्या इतना आसान था सब कुछ कह डालना ? तो कुछ दिन पहले ही क्यों न कह दिया ?' और उत्तर की आशा में वे प्रियम्वदा की ओर देखने लगे। प्रियम्वदा सिर झुकाए हुए उनके सिरहाने बैठी थी।

चाचा जी ने अपनी बात कह कर अन्त में एक और वाक्य अत्यन्त सुन्दर ढँग से जोड़ दिया—'बेटी, मुझे उम्मीद है, तुम मेरे सुख के लिए सब कुछ कर सकोगी।' क्या प्रियम्वदा का कृतज्ञ हृदय इस अनुरोध को टाल सकता था ?

प्रियम्वदा ने अपना सिर ऊपर उठाया। चाचा जी के चेहरे पर आशा और उत्कण्ठा के चिह्न, सामने के पहाड़ की तरह, स्पष्ट हो उठे। प्रियम्वदा ने शून्य में देखते हुए, स्थिर स्वर में कहा—'अच्छा।'

दो महीने बाद सुबोध और प्रियम्वदा का विवाह हो गया। चाचा जी ने और मैंने उस कठिन कार्य को सम्पन्न कर, सुख की साँस ली। किन्तु कठिनतर कार्य का भार तो अब सुबोध पर था, जिसे एक शव में जीवन डालना होगा।

सुबोध का प्रेम उसके सन्तोष की भाँति ही असीम था। किन्तु प्रेम तो प्रेम को हमेशा नहीं पा सका है। विवाह के बाद एक बरस बीत गया, लेकिन वह एक वर्ष भी प्रियम्वदा में कोई परिवर्तन न ला सका। प्रियम्वदा आज भी संसार से उतनी ही दूर थी, जितनी कि एक वर्ष पहले।

सुबोध का प्रेम उसके सन्तोष के साथ मिल कर हज़ार मन्त्रणाएँ करता था। वे दोनों अनेक बार तरह-तरह के षड्यन्त्र रच चुके थे, किन्तु प्रियम्वदा को वे सुबोध के निकट न ला सके। अतल की मछलियों को तो जाल में पकड़ा जा सकता है, किंतु आकाश के सितारों को, गर्दिश के गुम्बद में अंकित हमारे उन भाग्य-नक्षत्रों को कौन पकड़ सका है?—कुछ ऐसी ही थी, सदैव शून्य की ओर देखने वाली प्रियम्वदा की दृष्टि!

प्रियम्वदा की बेखुदी दूर न हुई। पिछले सप्ताह की उस घटना से मेरे लिए तो यह निष्ठुर और कठोर सत्य बिलकुल स्पष्ट हो गया था; किन्तु भोला सुबोध उस सत्य को न समझ सका था।

स्थानीय हाई स्कूल में वार्षिक पारितोषिक-वितरण के उपलक्ष्य में उत्सव था। सुबोध वहाँ का प्रबन्धक है, इसलिए हेड मास्टर ने प्रियम्वदा के हाथों पारितोषिक बँटवाने का आयोजन किया था। मुझे खुशी थी कि प्रियम्वदा का मन कुछ देर बहलेगा। आशा जीवन का पल्ला सदा थामे रहती है, कभी नहीं छोड़ती। मुझे आशा थी कि ऐसे मन-बहलाव से शायद प्रियम्वदा की चेतना लौट आएगी। किन्तु यह मेरा भ्रम था।

पारितोषिक पाने वालों में एक विद्यार्थी का नाम सोमेन्द्र नाथ था। नाम सुनते ही मैं चौंका, लेकिन प्रियम्वदा नाम की, वह मोम की मूर्ति वैसी ही निश्चल रही। एक शिकन भी तो उसके चेहरे पर न आई। क्या प्रियम्वदा वास्तव में जीवित है? मैंने सोचा!

सुबोध के हृदय पर इसका दूसरा ही प्रभाव पड़ा। उसने सोचा प्रियम्वदा सोमेन को भूल चुकी है! तो क्या विडम्बना ही जीवन है? क्या जीवन की गति को गतिशील रखने के लिए भ्रम आवश्यक है?

सुवोध के मन में उस भ्रम के कारण, प्रियम्वदा को, उस निरीह प्राणी को सशरीर पाने की आकांक्षा बलवती हो उठी। किन्तु प्रियम्वदा भी क्या उसका विरोध कर सकी ?

कुरूप और कठोर वास्तविकता से दूर, बहुत दूर, किसी स्वप्न-लोक में प्रियम्वदा की चेतना जग उठी, किन्तु वह जगी हुई चेतना भी प्रियम्वदा को संसार के निकट न ला सकी।

उसकी अधखुली आँखें, ऊपर के पलकों से आधी ढँकी हुईं उसकी बड़ी-बड़ी काली-काली पुतलियाँ, पुलकित और शिथिल होते अंग-प्रत्यंग और उसके तीव्र श्वास—वह सभी कुछ सुवोध के लिए भ्रामक सिद्ध हुआ। सुवोध को अपनी विजय पर गर्व था। उसने अपने को उस अशरीर शरीर का स्वामी समझा।

भोले सुवोध को विश्वास हो गया कि प्रियम्वदा के मन और शरीर पर उसका स्वामित्व है। ऐसे ही भ्रामक स्वप्नों को पलकों में मूँदे, वह सुख की गाढ़ निद्रा में सो गया ! प्रियम्वदा ने उस सुदूर स्वप्न-लोक से क्षीण स्वर में पुकारा — 'सोमेन, इधर खसक आओ न, सोमेन !' — और मोह-निद्रा में निमग्न सुवोध को उसने अपनी ओर खींच लिया। किन्तु क्या वह डूबते हुए सुवोध को उवार सकी ? हाँ, सुवोध उसे उवारने के निमित्त प्रयोजन मात्र बन गया था।

सुवोध ऐसी मोह-निद्रा में कभी न सोया था। प्रियम्वदा को भी वर्षों से ऐसी गाढ़ी नींद न आई थी। वह सुबह तक सोती रही। किन्तु नियमित समय से कुछ ही देर बाद सुवोध की नींद टूट गई। उसे सुवह सात बजे की गाड़ी से बाहर भी जाना था।

प्रियम्वदा अभी सो रही थी। उसके ढीले ओठों पर एक अद्भुत भाव था, जैसे अपने बिछुड़े हुए प्रेमी से अभी-अभी संभाषण करती हुई वह सो गई है। और एक अदृश्य मुस्कान; जैसे मधु में लिपटे मधुकर की भाँति, उड़ जाने में वह मुसकान असमर्थ है। सुवोध के हृदय में पहला भाव, उन ओठों को चूम लेने की बलवती इच्छा थी।

न जाने क्यों, दिन के प्रकाश में अशरीर प्रियम्वदा को छूने का उसे साहस न हुआ ? सुवोध उसे कुछ देर तक देखता रहा। उसने श्वासों की गति में उठते और गिरते प्रियम्वदा के वक्षस्थल की ओर देखा। न जाने क्यों, उसे आभास हुआ, जैसे उसे पीछे छोड़ कर एक काफ़ला दूर हटता जा रहा है और उड़ती हुई धूल के अतिरिक्त वह किसी को अपने निकट नहीं देखता ? उसे प्रतीत हुआ जैसे प्रियम्वदा, रात भर जिसके साथ पहली बार वह एक शय्या

पर सोया है, जिसके शरीर का वह स्वामी बन चुका है, वह प्रियम्वदा वास्तव में उससे बहुत दूर है और प्रति क्षण और भी दूर हटती जा रही है। तो क्या एक रात भर का वह सामीप्य केवल भ्रम था। सुबोध के लिए यह विचार असह्य हो उठा।

उसके अहंकार ने कहा—'नहीं सुबोध, तुम प्रियम्वदा के शरीर के स्वामी हो। तुम्हारा ही उस पर अधिकार है! और यही तो है वह देह! कितनी असहाय है यह देह! आँखें खोल कर देखो, तुम्हारे सामने ही तो पड़ी है देह!'

किन्तु दिन के प्रकाश में अब उसकी आँखें वास्तव में खुलती जा रही थीं। 'क्यों खुल रही हैं ये आँखें? अब क्या देखना चाहती हैं ये आँखें? नहीं, नहीं, मैं अब और कुछ नहीं देखना चाहता,' सुबोध का हृदय कराह रहा था। उसने बलपूर्वक अपने विस्फारित नेत्रों को मूंद लिया।

चार दिन के बाद जब वह मुरादाबाद से लौटा, उसे मालूम हुआ जैसे सारा शहर बदल गया है; और घर में घुसते ही उसे जान पड़ा जैसे वह घर ही सम्पूर्ण परिवर्तन का केन्द्र है। हवा में, दीवारों में और सिमेन्ट के कई बरस पुराने उस फ़र्श में न जाने कैसा एक परिवर्तन आ गया था कि सम्पूर्ण वातावरण ही बदल गया था।

वह अपने कमरे में गया। ड्राइंगरूम में गया। लेकिन सभी जगह, सहमी हुई दीवारों की निस्तब्धता से उसे भय-सा लगता था। दो घंटे तक वह अकेला ही बैठा रहा। प्रियम्वदा कहाँ है? — उसने सोचा, किन्तु उसके स्वागत के लिए कोई न आया।

बैठे-बैठे वह ऊब गया होगा, क्योंकि सिर नीचा किए वह अब तेज़ी से कमरे के बीचोंबीच घूम रहा था। और कौन जाने कितनी देर तक वह उसी तरह घूमता रहा? प्रियम्वदा को तो वह तभी देख सका, जब उसने बहुत देर बाद, मुड़ कर दरवाज़े की ओर देखा। प्रियम्वदा भी निश्चल मूर्ति की भाँति चौखट के सहारे न जाने कितनी देर से खड़ी थी। सुबोध एकबारगी उसे पहचान भी न सका, किन्तु दूसरे ही क्षण वह उसे पहचान कर सहसा चौंक उठा। प्रियम्वदा विधवा के वेश में थी। रूखे केशों के बीच उस तेजस्वी चेहरे की ओर वह अधिक देर तक देख भी न सका।

सुबोध ठिठक कर जड़वत् खड़ा था; किन्तु प्रियम्वदा शान्त भाव से दो चार-कदम चल कर उसके सामने घुटने टेक कर बैठ गई। उसके करुण, किन्तु तेजस्वी नेत्रों में हिन्दू विधवा के चिरन्तन संस्कार ज्योतित हो उठे थे। उसने

हाथ जोड़ कर सुबोध से अत्यन्त विनम्र, किन्तु शान्त स्वर में कहा—'सुबोध बाबू, मैं आपकी अनेक कृपाओं के लिए आपके प्रति ऋणी हूँ। किन्तु मुझ असहाय विधवा के पास, उन उपकारों के लिए प्रत्युपकार में, देने को है क्या? मैं असहाय हूँ, सुबोध बाबू! अनाथ हूँ। आशा है आप मेरी रक्षा करेंगे। वर्षों की मूर्छा के बाद मेरी चेतना लौट आयी है। अब मुझे अपने पति के प्रति अपने कर्तव्य का पालना करना है। हाँ, सुबोध बाबू मुझे अपने को सोमेन की पावन-स्मृति के योग्य बनाना है। युगों के बाद जगी हुई मेरी चेतना कह रही है कि अब मेरे लिए तपस्या का समय आ गया है। अपने देवता-ऐसे पति के शरीर को मैंने कञ्चन नहीं, मिट्टी समझा था; उस पाप के लिए मैं पर्याप्त प्रायश्चित कर चुकी हूँ—उस स्वर्ण की क़ीमत पहचानने के लिए काफ़ी मूल्य भी दे चुकी हूँ। अब मुझे उन्हें पाने के लिए तपस्या करनी है, जिस तपस्या का वे मुझे अवसर दे गए हैं। आशा है आप उसमें बाधा न डालेंगे।"

सुबोध क्या कहता? वह पत्थर की मूर्ति की तरह, जड़ और निःशब्द खड़ा था। प्रियम्वदा की आँखों का करुण अनुरोध और भी सजीव हो उठा। अन्त में वह अपने आपको न रोक सकी—'आपके पैरों पड़ती हूँ, सुबोध बाबू! मुझ असहाय विधवा की रक्षा कीजिए। मैं निरीह प्राणी हूँ। मेरी मुक्ति में बाधा न डालिए।' और सतीत्व की वह साकार मूर्ति, किंकर्तव्यविमूढ़ सुबोध के पैरों में सिर रख कर फूट-फूट कर रोने लगी, जैसे प्रलय के बाद सचेतन सृष्टि अपने को अकेली और अनाथ देख कर, फिर प्रलयसिन्धु में घुल जाने का प्रयत्न करने लगी हो।

दिन में जिन जड़ वृक्षों की ओर मैंने कभी आँख उठा कर भी नहीं देखा, रात्रि के झीने अन्धकार में उन्हें देख कर आश्चर्य किया है कि उनकी चेतना रात में न जाने कहाँ से लौट आती है, और वह मायाविनी मुझे पग-पग पर अपनी ओर आकर्षित करती हैं। वह रहस्यमयी जैसे कहती है कि दिन भर की खोई हुई चेतना को पाने के लिए वृक्षों को अन्धकार में डूबना पड़ता है। तो क्या यह सच है कि खोई हुई आत्मा को पाने के लिए प्रियम्वदा के हेतु देह-यज्ञ की वह काल-रात्रि अनिवार्य ही थी?

❀

पूरे पाँच वर्ष वाद वह आज सुरेश से मिलेगी। शारदा के हृदय में, न जाने क्यों, भय की एक हलकी लहर-सी उठती है ?. रह-रह कर एक अज्ञात आशंका उसे न जाने क्यों सताने लगती है ? क्या इसलिये कि वह आज दूसरे की हो कर भी अपने पहले प्रेमी से मिलेगी ? प्रेमी ही सही, किन्तु प्रेमी से भय कैसा ?—यह आशंका क्यों ?

सुरेश के लिये शारदा आज भी संसार में सवसे प्यारी चीज़ है, शारदा के हृदय में पूरा विश्वास है। शारदा यह भी जानती है कि सुरेश उसे किसी भाँति की हानि नहीं पहुँचा सकता। इतने पर भी यह भय, यह व्यर्थ की आशंका क्यों ?—और फिर शारदा को यह भी तो न भूल जाना चाहिये कि सुरेश के पास न्योता भी तो उसीने भेजा है !

न्योता किस लिये भेजा है ? क्या यह कहने के लिए, कि मेरे वंचित प्रेमी ! अवश्य मैंने किसी समय तुम्हें अपना हृदय दिया था, किन्तु आज समाज और समाज के मान्य गुरजन की आज्ञा से, कर्त्तव्य की वेदी पर अपनी रंगीन इच्छाओं और आकर्षक कामनाओं की बलि दे रही हूँ ? इतना ही नहीं, वह अपने पहले प्रेमी को और भी विश्वास दिलाना चाहती है कि मैंने अपने स्वार्थ पर पूरी विजय प्राप्त की है और अपने त्याग में मैं आज तृप्त हूँ, अपने वैराग्य में सुखी हूँ।

अपने पहले प्रेमी से वह ये सब निरर्थक बातें···लेकिन वह उन्हें कहना ही क्यों चाहती है ? क्या यह सुनने के लिये कि वह अपने लिये एक ऐसे संसार

की सृष्टि कर चुकी है, जहाँ प्रेम नहीं, कर्त्तव्य ही इष्ट है; जहाँ मन की कामनायें नहीं, गुरुजन की आज्ञा का निस्वार्थ पालन ही धर्म है ? वह सुरेश को आमंत्रित ही क्यों कर रही है ? क्या आत्मप्रशंसा के सुख का उपभोग करने के लिये ? यदि यह नहीं, तो क्या विजित को उसकी पराजय का; अकिञ्चन को उसके खोये हुए धन का; अथवा व्यथित को उसकी व्यथा का ही ज्ञान कराने के लिये ? जिस घायल के घावों के लिये उसके पास मरहम नहीं, उसके घावों से बँधी हुई पट्टियों को आखिर वह खुलवाना ही क्यों चाहती है ? जो भिक्षुक एक बार निराश हो कर लौट चुका हो, उसे वह सिर्फ़ इतनी-सी बात सुनाने के लिये क्यों पुकार रही है कि सुनते जाओ, निराश भिक्षुक ! मेरे पास तुम्हें भिक्षा में देने के लिये कुछ नहीं है, कुछ नहीं है ! और वह भिखारी भी तो साधारण भिखारी नहीं है । वह शारदा के विश्वास-भरे इशारों के ही कारण भिखारी बना; वह, जिससे वह खुद भी कभी कुछ भिक्षा चाहती थी ।

पहले प्रेमी, निराश सुरेश को इस प्रकार बुला भेजना क्या अन्याय नहीं ?—शारदा की अन्तरात्मा शायद इसीलिये सशंकित थी, भयभीत थी ।

शारदा की गोंक्तियाँ सुन कर क्या सुरेश उसे ताना न देगा—'क्यों शारदा, जिसे तुम भी कभी अपना हृदय दे चुकी थीं, आज उसे अपने प्रेम से वंचित कर, इस तरह ज़लील करना चाहती हो ?' तब उसका उत्तर वह क्या देगी ? और सुरेश के व्यथित हृदय को चोट पहुँचा कर उसे लाभ ही क्या होगा ?—ऐसी ही अनेक समस्यायें उसे भयभीत कर रहीं हैं । हृदय में बरबस आशंकायें आन्दोलन मचा देती हैं । बिजली के पंखे की तेज़ हवा में भी वह पसीने से तरबतर हो रही है ।

शारदा के उद्भ्रान्त हृदय ने उसे धीरज बँधाया—'तुमने तो, शारदा, अपनी संचित और प्रियतर इच्छाओं की बलि दे कर ही कर्त्तव्य का कठिन मार्ग ग्रहण किया है । जिसे तुमने धर्म समझा, उसी को तो अपनाया है । फिर सुरेश पर अन्याय होने की अशंका क्यों ? सुरेश के दग्ध वाग्बाणों की आखिर इतनी चिन्ता भी क्यों, जब तुम वास्तव में उसके हित और कल्याण की ही कामना रखती हो ?'

मन में फिर तर्क हुआ—'सुरेश के कल्याण की इसमें कौन-सी कामना छिपी हैं ? तुम तो धूल में मिले हुए फूल को और भी पामाल करना चाहती हो न ?'

इस तर्क का तुरन्त ही समाधान भी हुआ—'गुरुजन की आज्ञा में ही आनन्द समझ कर, विवाह में सुहाग का नहीं, तुमने वैराग्य का ही तो वरण किया

है। समाज के हित की कामना से अपना अहित कर, स्वार्थ को जीता है तुमने। और इस प्रकार अपनी आत्मा की उन्नति का मार्ग भी ढूंढ निकाला है। तुम तो सुरेश की आत्मा को भी यही श्रेयस्कर मार्ग दिखाना चाहती हो। सुरेश के कल्याण की कामना से ही आज तुमने उसे बुला भेजा है।'

अन्धकार में से किसी ने कहा—'अपने को धोखा देती हो, भोली बालिका! तुम अभी आसक्ति और वैराग्य के भेद को ही नहीं समझतीं!'

शारदा के हृदय ने तड़ित की भाँति तड़प कर उत्तर दिया—'आसक्ति और वैराग्य के भेद को ही नहीं समझती? क्या शारदा नहीं समझती इस भेद को, जिसने दूसरों की खुशी के लिये अपनी सब संचित कामनाओं की बलि दे दी, जिसने अपने इच्छित पथ से मुँह मोड़, सदा के लिये अपनी कामनाओं से नाता तोड़ लिया?'

अन्धकार में से किसी ने फिर कहा—'आसक्ति से नाता तोड़ लेना इतना आसान नहीं है। भूली हुई कामनाओं को तुम यह कहने के लिये क्यों आमंत्रित कर रही हो कि अब वे तुम्हारी नहीं रहीं, तुम्हें अब उनसे आसक्ति नहीं है? किन्तु वास्तव में यह उलझी हुई तुम्हारी दिग्भ्रांत मनोदशा का ही द्योतक है।'

वैराग्य की भ्रान्ति और उस भ्रान्ति के भ्रान्ति होने की आशंका के कारण शारदा के मुख से एक शब्द भी न निकला। कमरे के बाहर सुरेश की पद-चाप सुनाई दी, शारदा सँभली। ढलती हुई निद्रा के पश्चात, बीते हुए स्वप्न-जंजाल के बाद, जैसे साकार सूर्य का उदय होता है, सुरेश ने शारदा के कमरे में प्रवेश किया। जैसे विगत दु:स्वप्न की सब बातें जगने पर भूली-सी प्रतीत होती हैं, शारदा भी पिछले क्षणों के तर्क-वितर्क को बरबस भूलती गई। सुरेश को देख-कर तो वह उस बात को भी न कह सकी, जिसे कहने के लिए शारदा ने लौटाये हुए भिखारी को वापस बुला भेजा था।

पाँच वर्ष के बाद आज दो बिछुड़े हुए प्रेमी मिले थे। वे पाँच लम्बे वर्ष, कल्पों की भाँति न बीतने वाले वे पाँच वर्ष, बीती हुई एक रात की तरह अस्तित्वहीन हो गये—जैसे मंगल-प्रभात को देख कर कोई बीती रात को क्षण मात्र में बिसार दे!

शारदा के लिये तो वे कठिन आत्म-विमर्श से भरे हुए पाँच वर्ष थे, जब मन कभी कहता था—'यही तो सच्चा सुख है; त्याग की आग है; वैराग्य का राग है; और निस्वार्थ कर्त्तव्य-निष्ठा की कामनाओं पर सच्ची विजय है। इस उच्चादर्श के पारस को छू कर ही तो मन सुवर्ण बनेगा और फिर वेदना के आतप

में तप कर वह तरल होगा—तरल होगा, जिससे सत्य के साँचे में मन ढल सके। यही तो स्वर्ग है ! इसी में मुक्ति है !' और उत्साह जब धीमा होता, दुर्बल पैर ठहर जाते, कठिन राह में चलते-चलते ठिठकने लगते। संशय कानों में मानों कहने लगता था—'सच्चा वैराग्य है यह ? कहीं यह आत्म-प्रवंचना तो नहीं, जिसे मन सत्य कहता है ?' पैर काँपने लगते थे और शारदा निराधार हो, थक-कर बैठ जाती थी। फिर वह बल-संचय कर, आगे बढ़ती; और विगत बातों को भूलने का प्रयत्न करती थी। इस प्रकार कटे थे शारदा के वे विमर्श-पूर्ण लम्बे पाँच वर्ष !

आज अभी-अभी कुछ देर पहले उसे अनुभव हो रहा था, जैसे वह अपने आप पर पूर्ण विजय प्राप्त कर चुकी हो। और इसी विजय की घोषणा करने की कामना से, उसने सुरेश को आज आमंत्रित किया था—उसी सुरेश को, जिसे एक बार वह सर्वस्व दे चुकी थी, वही सुरेश—गुरुजन की आज्ञा शिरो-धार्य कर, जिसे वह त्याग चुकी थी। यह वही सुरेश है, जिसने पाँच वर्ष पूर्व शारदा से, बने बनाये सुख के संसार की व्यर्थ के वैराग्य और अनर्थ के कर्त्तव्य पर बलि न देने के लिए, प्रार्थना की थी—एक बार, बार बार !

सुरेश ने उसे चेतावनी दी थी। उसे कितनी ही तरह से बहलाने मनाने की कोशिश भी की थी। 'व्यर्थ का त्याग मोल लेना तप नहीं है, शारदा !'—सुरेश ने उसे समझाया था। सुरेश ने यह भी कहा था—'शारदा ! अच्छा तुम मुझे अपना कृपा-पात्र न बनाओ। कर्त्तव्य समझ, पिता की आज्ञा से जिसे वरण करने जा रही हो, उसी को पति मानों। किन्तु इस पति के वरण के बाद भी यदि तुम्हारे पिता तुम्हें किसी दूसरे ही पति को वरने की आज्ञा दें, तो भी क्या तुम उनकी आज्ञा का पालन करोगी ? यदि हाँ, तो मैं सहर्ष विदा लेता हूँ; और यदि नहीं, तो व्यर्थ की महत्ता को भूल, मुझे ही भिक्षा दो। हम पति पत्नी हैं, यही समझो !'

. . .

आज तो वे सब पुरानी बातें हुईं। किन्तु शारदा को एक-एक कर आज सभी बातें याद आ रही थीं। सुरेश से कही हुई अपनी वह अन्तिम बात भी उसे याद आई—'सुरेश ! राग-रंजित कामनाओं को छोड़, मैं आज वैराग्य ले रही हूँ। मैं अपनी अग्नि-परीक्षा में सफल हूँ, मुझे यही आशीर्वाद दो—एक यही अन्तिम भेंट दो !'

आशीर्वाद दे कर सुरेश ने अपनी पीठ फेरी थी और शारदा का नया संसार आरम्भ हुआ था। वह नया संसार, जिसमें कठिन आत्म-विमर्श के उसने वे पाँच

लम्बे वर्ष विताये हैं !—जिनमें तप कर, उसने आत्म-विजय की सिद्धि प्राप्त की है। संघर्ष के बाद, वह आत्म-विजय !

क्या उसी आत्म-विजय की घोषणा करने के लिये उसने सुरेश को बुला भेजा है ? क्यों बुला भेजा है तूने सुरेश को, पगली शारदा ? क्या विजय की घोषणा करने ? कहीं वह तेरी पराजय का ही तो संवाद न होगा, भोली शारदा ?

सुरेश को सम्मुख देख, शारदा सब कुछ भूल गई। पाँच वर्ष से विछुड़े हुए उस अतिथि का वह कुछ सत्कार भी न कर सकी। सुरेश ने मौन भंग करते हुए पूछा—'अच्छी तो रहीं ?'

शारदा के चरण काँपने लगे। कठिन पथ में चल कर, पाँच वर्ष की उस दूभर यात्रा में थके हुए, वे कोमल चरण विगत इतिहास की उस मूक मूर्त्ति, शारदा के भार को न सँभाल सके। शारदा गिरी, किन्तु सुरेश के चरणों का अवलंब ले कर, जैसे डूबता हुआ प्राणी किसी नौका का सहारा ले। उसका अहंकार आँसुओं में वह चला। विजय की घोषणा दो दीन शब्दों में हुई—'सुरेश, क्षमा !'

निराधार छिन्न लतिका-सी अचेत शारदा को सुरेश ने गले लगाया। आँसू की दो शीतल बूंदों से उसे सचेत किया।

शारदा ने दोनों आँखें खोल दीं। भ्रान्त मृगी के उन विस्फारित नेत्रों की भाषा तो कौन जान सकता था; शारदा के उद्भ्रान्त शब्दों को समझना और उन पर विश्वास करना ही एक पहेली था। शारदा ने बन्धन से मुक्त हो कर पागलों की भाँति कहा—'सुरेश, मेरी रक्षा करो। मैं तुमसे भिक्षा माँगती हूँ, मुझे न छुओ। अपने स्पर्श से मेरे वैराग्य को न रँगो। मुझे बचाओ, सुरेश ! मेरी संचित साधना को कलुषित न होने दो। मेरी विजय को मुझसे न छीनों, तुम्हारे पैर छूती हूँ, सुरेश ! रेगिस्तान को सर-सब्ज़ किए हुए वाग़ में, अंगारों से भरा हुआ यह तूफ़ान मत उठाओ। तुम यहाँ आये ही क्यों ? जाओ, जाओ ! देखो, बाँध टूटा ही चाहता है। मेरा वना बनाया संसार वह चलेगा। रक्षा करो, सुरेश ! रक्षा करो !'

सुरेश तो चला गया, पर बेचारी शारदा उस अन्तिम आत्म-संघर्ष को न सह सकी। उसने सदैव के लिए संसार से आँखें मूंद लीं।

नगर के दक्षिण में गंगा की शुभ्र धारा युगों से बह रही है। गंगा के जल में दिवस की कंचन-चिता, संध्या, अपनी अन्तिम लपटों को समेट, लीन हो रही

है और तट पर शारदा की चिता भी अपनी अन्तिम जीवन-लीला समाप्त कर चुकी है।

सुरेश, जिसके हृदय में अगणित जीवन-संध्याओं-सी चिताएँ प्रज्ज्वलित हो कर बुझ चुकी हैं, और जिसके अन्तर में शतसहस्र निशाओं के तम से गहनतर तिमिर-पारावार लहराता है, सदैव के लिए बुझती हुई, शारदा की चिता के सहारे बैठा, वैराग्य की भस्म को अपने मस्तक पर धारण करने की चेष्टा कर रहा है, मानों संध्याकालीन संसार तम से अपना अभिषेक करना चाहता है।

नीरव संध्या का मौन भंग करते हुए, सुरेश ने धीरे से कहा—'तुम भूलती थीं, शारदा! जिसे तुम वैराग्य समझती रहीं, वह केवल आत्म-प्रवंचना थी।'

पहाड़ की हलकी हवा में आसमान का नीला रंग और भी साफ़ मालूम होता है, और भी स्निग्ध। बड़े-बड़े शहरों का भार हृदय पर धारण करने वाले, नीचे के प्रशस्त मैदानों के ऊपर भी वही आसमान है, लेकिन वहाँ और यहाँ के रंगों में कितना अंतर है ! मामूली सूती कपड़े पर मैले पानी में घोला हुआ रंग मैदान के आसमान का रंग है; और पहाड़ के आसपास का रंग है, जैसे साफ़ पानी में घुला हुआ रंग, जो रेशम की बारीक चादर पर चढ़ाया गया हो। थका हुआ बलभद्र यही सब देख और सोच रहा था।

पगडंडी के किनारे जिस चट्टान पर वह बैठा था, वह बहुत छोटी न थी; और फिर थके हुए पथिक को लुभाने के लिए तो वह काफ़ी आराम की जगह थी। बलभद्र अनायास और विवश लेट गया । उसका इरादा सोने का न था। लेकिन वृक्ष की छाया थी और हाथ का तकिया। मई के महीने में भी शीतल और सुखद बनी रहने वाली उस हलकी पहाड़ी हवा की झीनी रेशमी चादर को ओढ़ कर, वह दो ही चार क्षणों में अच्छी गहरी नींद में सो गया।

ऐसे मौक़ों पर जब गुरुतर चिन्ता और सुखद निद्रा के बीच संघर्ष के लिए मनुष्य का हृदय कुरुक्षेत्र बन जाता है, तब वह किंकर्तव्यविमूढ़ हो, कर्तव्यनिष्ठा और निद्रा के आकर्षण की परस्पर-विरोधी धाराओं की भँवर में डूबने-उतराने लगता है। जैसे डूबता हुआ मनुष्य बार-बार आकुल हो कर उछल-उछल पड़ता है, वैसे ही चिन्ता में उनींदा मनुष्य भी, अपनी चेतना को क़ायम रखने के लिए, रह-रह कर बेचैन हो उठता है।

परीक्षा के भीषण स्वप्नों के भय से विद्यार्थी, जैसे सुवह की सुखद निद्रा के स्नेहपाश को तोड़, जान छुड़ा कर चारपाई से कूद पड़ना चाहता है, वैसे ही चिन्तातुर बलभद्र भी नींद के नशे पर क़ाबू पाने की कोशिश में था। लेकिन अंत में उसकी पराजय हुई और थके हुए तैराक की तरह, वह नींद की गहरी सरिता में डूब ही गया। कुछ देर तक वह असहाय भाटे की तरह लक्ष्यहीन और निरुपाय होकर ढुलकता रहा, किन्तु कौतूहल का फल चख लेने वाली नारी की संतान, मानव के मन को निष्क्रिय वना देना क्या साधारण प्राणियों का काम है ? प्राचीन ग्रंथों में देखा-सुना है कि युगों के कठिन योगाभ्यास के उपरान्त ही कहीं योगीन्द्र अपने को निष्क्रिय वना सकते हैं और इस प्रकार तुरीयावस्था को प्राप्त होते हैं। लेकिन यह तो पुस्तकों की वात है। साधारण जीवन में तो यही देखा और सुना जाता है कि जव तक साँस है, शांति नहीं।

निद्रा ने वलभद्र के पलकों पर प्रहरी विठा दिए। दृश्य जगत की सव वस्तुओं पर प्रतिवंध लग गया, लेकिन वलभद्र का चिन्तातुर मन ?—अन्दर से घर का दरवाज़ा वंद करके जैसे कोई वालक तोड़फोड़ में लग जाता है, वलभद्र का मन भी अपनी उपचेतन अवस्था की उस उधेड़वुन में लग गया, जिसे हम स्वप्नों का जंजाल कहते हैं।

कुल-मर्यादा को नष्ट करने वाली अपनी तिरस्कृता वहन के प्रति सात वर्ष की नाराज़ी को भूल, आज वलभद्र उसे खोजने निकल पड़ा है। आज उससे मिलने के लिए वलभद्र चिन्तातुर है। कुल के कलंक और अपने अहंकार की कालिमा को वह उपेक्षिता वहन के चरणों में आँसू वहा कर हमेशा के लिए धो डालना चाहता है। लेकिन उस वहन का पता वह कहाँ पा सकेगा ? वलभद्र ने सिर्फ इतना ही सुन रखा था कि उसकी वहन किसी अंधे कवि के साथ उत्तराखंड के किसी गाँव में रहती है। वे दोनों वहाँ के ग्रामीण लोगों के साथ ग्रामीण जीवन व्यतीत करते हैं। गाँव का नाम भी उसने सुना था। लेकिन पहाड़ी इलाकों में उन छोटे-छोटे गाँवों का पता लगा लेना कोई आसान काम नहीं है। ऊँची-नीची ज़मीन पर पड़े हुए, छिन्न माला के मूंगों को अँधेरे में चुन लेना आसान है, लेकिन पर्वत-प्रदेश के गाँवों का पता लगा लेना साधारण परदेसियों के लिए संभव नहीं। ऐसी ही बहुत-सी बातें सोचते-सोचते वलभद्र खिन्न मन से सपनों के जंजाल को सुलझा रहा है। लेकिन द्रौपदी के चीर की तरह उस जंजाल का अंत ही नहीं आता।

वहन को खोजते-खोजते वह थक गया है। उसके पैर लहू-लुहान हो गये हैं। और रास्ते का कहीं अन्त दिखाई नहीं देता। पहाड़ी पगडंडियों में झाड़-

झंखाड़ का सहारा ले कर रोड़ों पर चलना पड़ता है, जहाँ अगला क़दम अनिश्चित है, जहाँ रास्ता रोक कर खड़ी हुई दैत्य-जैसी पहाड़ियों को पार करते ही पाताल-सा मृत्यु का काला देश भूले-भटके पथिकों को अपना ग्रास बनाने के लिए गहरे खड्डों के रूप में कब, कैसे और कहाँ आ जाय, कोई नहीं जानता। लो, सामने सहसा एक खड्ड आ ही तो गया, जिसके भूखे पेट की गहराई का पता लगाना संभव नहीं। पैर फिसला, बलभद्र के जीवन का अन्त हुआ। ऐसा दुखद अन्त होगा इस जीवन का, बलभद्र ने कभी कल्पना भी न की थी। इस तरह बेमौत मरना उसे गवारा न था—या शायद मृत्यु से भयभीत हो कर ही वह इस तर्क का सहारा ले रहा था। यह सोच कर बलभद्र के स्वाभिमान को चोट पहुँची। उसने बहादुरी के साथ मौत का सामना करने के लिए पूरी ताक़त से दोनों आँखें मूँद लीं, प्रत्येक तँतु खिंच गया—इतना अधिक कि दूसरे ही क्षण उसके टूटने का भय होता था। हृत्कम्प इतना अधिक बढ़ गया, जैसे हथौड़े की चोट से पसलियों के अस्थिपंजर को अंदर से तोड़ने की कोई जी-जान से कोशिश कर रहा हो।

ऐसी अवस्था में बलभद्र को और कुछ क्षणों तक रहना पड़ता तो शायद सचमुच उसकी मृत्यु हो जाती। लेकिन जीवन मृत्यु से अपनी रक्षा करना जानता है। सहसा बलभद्र की आँख खुल गई। पहले तो वह स्वयम् ही न समझ सका कि वह स्वप्न देख रहा था। अपने को सुरक्षित और जीवित देख, उसे आश्चर्य हुआ और वह अनायास ही मुस्करा दिया। तब कहीं उसे बढ़ते हुए अंधकार का ध्यान आया। संध्या बीत चली थी और एक अपरिचित स्थान में पहाड़ी रात का स्वागत करने के लिए बलभद्र ज़रा भी तैयार न था। पास के गाँव में रात बिताने के लिए वह फ़ौरन चल पड़ना चाहता था।

किन्तु उसका झोला और बिस्तर, जिन्हें अपनी यात्रा में वह जीवन के मोह की तरह पीठ पर लादे घूमता रहा था, वहाँ नहीं थे। उसके पैरों के नीचे से एकबारगी सारी ज़मीन खिसक गई। और जब उसने मुड़ कर पीछे देखा, उसके आश्चर्य की सीमा न रही। एक हँसमुख युवक, एक हाथ में झोला लिए और कमर पर बिस्तर लादे, वहाँ खड़ा, जैसे बड़ी देर से उसके आदेश की प्रतीक्षा में था। बलभद्र को आश्चर्य में देख, युवक ने बड़ी शिष्टता के साथ पूरी परिस्थिति समझा दी। युवक ने बतलाया कि वह पास के गाँव का एक स्वयम्-सेवक है। छः सात वर्ष पहले उत्तराखंड की इस पवित्र भूमि में भी यात्री लोग लुट जाया करते थे, इसलिए यहाँ एक स्वयम्सेवक दल की स्थापना की गई है। लोगों को इस सत्कार्य की प्रेरणा देने का श्रेय दल के संस्थापक और प्रधान,

बाहर से आए हुए, देवदूत के समान एक व्यक्ति को है, जो यद्यपि साधारण सांसारिक पुरुषों के लिए अंधे हैं, किन्तु वास्तव में हैं दिव्यचक्षु। वे कवि हैं, जिनकी दिव्य वाणी राग-द्वेष से क्षुब्ध समस्त मानव-संसार को शांत और शीतल करने की सामर्थ्य रखती है। उनके साथ एक देवी हैं, जिन्हें स्वयम्सेवक माँ कहते हैं। वे दोनों पाँच-छः वर्ष पूर्व इधर आए थे और संसार से दूर, किसी अज्ञात कोने में निवास करना चाहते थे। देवभूमि उत्तराखंड की तात्कालिक दुर्व्यवस्था को वे चुपचाप सहन न कर सके, और इस प्रकार उन्हें नासमझ संसार से फिर नाता जोड़ना पड़ा, इत्यादि।

बलभद्र ने कोई प्रश्न नहीं किया। सिर्फ़ एक गहरी साँस ली और अपने सीधे हाथ से माथे का पसीना पोंछ लिया। दोनों व्यक्ति गाँव की ओर चल पड़े। स्वयँसेवक ने फिर कहा — 'आप उन्हीं के आश्रम में ठहरेंगे, लेकिन इस समय उनके दर्शन न हो सकेंगे। दिन भर के कार्य-भार के बाद, इस समय वे काव्य-साधना में लीन हो जाते हैं और माता के अतिरिक्त और कोई उनके पास जा नहीं सकता।'

सीढ़ियाँ ख़त्म होने के बाद एक छोटा-सा सहन है, जिसके बीचोंबीच कमरे का दरवाज़ा खुलता है, जो इस वक़्त खुला हुआ है। कमरे में प्रकाश है और उस प्रकाश में साफ़ दिखलाई पड़ता है कि दो व्यक्ति पास बैठे बड़े स्नेह से बातें कर रहे हैं। यदि कोई सीढ़ी के किनारे, अँधेरे में बैठ कर सुने तो वह सब कुछ सुन ही नहीं, देख भी सकता है। खुद अँधेरे में छिपा रहने के कारण, वह स्वयं तो छिपा ही रहेगा।

बहन को उसी रात देख लेने के लोभ को बलभद्र छोड़ नहीं सका था। इसलिए आश्रम से निकल कर, वह चुपके-चुपके दबे पाँव सीढ़ियों के सहारे, ऊपर आ गया था। फिर कमरे में दम्पति के प्रेमालाप में बाधा न डालने के खयाल से, वह आखिरी सीढ़ी पर चुपचाप बैठ गया था। एकटक वह बहन को देख रहा था। एक-एक शब्द वह सावधानी से सुन रहा था। आँख-कान के सिवा उसका बाक़ी सब शरीर शून्य हो गया था।

'मालती, मैंने अनेक बार, कदाचित् प्रत्येक दिन तुमसे कहा है — आज का दिन कितना सुन्दर है, कितना सुखकर है!' स्वर कुछ धीमा और गंभीर हो गया। 'मेरी आँखें नहीं हैं, इसलिए मैं संसार की सुन्दरता को दूसरों की भाँति, देख नहीं सकता; किन्तु अपनी अनुभूतियों को स्पष्ट देख सकता हूँ — जैसे कोई आँखों वाला, पूर्णिमा के चाँद को देख सकता है।' कवि के धनुषाकार ओठों पर मुसकान नाच उठी। आनन्द के उद्वेग से, उसके कपोलों पर पड़े हुए

झुंगेदार केश हिल गए। 'ये ग्रामीण बंधु मुझे दिव्यचक्षु कहते हैं, तो क्या झूठ कहते हैं ? मैं वास्तव में सौन्दर्य और सुख जैसे सूक्ष्म और निराकार तत्वों को सजीव रूप में देख सकता हूँ। जिस विधाता ने मेरे जीवन की अमावस्या बनाई, उसी ने मुझको तुम्हें दिया, मेरे पूर्णेन्दु ! जिस महाकाव्य को आज मैंने समाप्त किया है, वह तुम्हारी ही तो ज्योत्स्ना है।

'तुम बोलती क्यों नहीं हो, मालती ? क्या थक गईं इस प्रेमालाप-प्रलाप से, या इस महाकाव्य की पंक्तियों को नित्य लिखते और सुनते-सुनाते ?'

'थक गई हूँ ? तुम इतने निष्ठुर कैसे हो सकते हो ? सब कुछ समझते हो, खूब जानते हो कि मेरे चुप हो जाने का कारण क्या है। तुम्हारे श्रीचरणों में ही सदैव रह सकूँ और उस जन्म में भी किस कौशल से तुम्हें पाऊँ, इसी चिन्ता में अपने को भुला कर, कभी कुछ क्षणों के लिए चुप हो जाया करती हूं।'

'किन्तु, मालती, तुम तो जानती ही हो कि मालती को छोड़ कर और कोई व्यक्ति उस जन्म में भी तुम्हारे स्थान को नहीं पा सकता। फिर यह चिन्ता क्यों ?'

वह चुप थी। उसकी आँखों में आँसू उमड़ आए, किन्तु फिर दूसरे ही क्षण अपने को सँभाल, गला साफ़ करती हुई बोली—'यही तो चिन्ता का कारण है।' कहना चाहती थी—'क्या मुझे किसी दूसरे नाम से नहीं पुकार सकते ?'—लेकिन जिस तपस्या में इतने दिनों वह चुप रही थी, आज भी उसी के कारण, उसने मुँह न खोला।

बाहर बैठे हुए बलभद्र को आश्चर्य हुआ। उसकी बहन का नाम तो मालती न था, किन्तु स्वर और आकृति को वह कैसे भूल सकता था ? हाँ, वह सुभद्रा ही थी, किन्तु फिर यह मालती क्यों ? कवियों को नए नामकरण का सदैव अधिकार होता है, यह सोच कर बलभद्र का मन फिर कुछ स्थिर हुआ। उसके कानों में फिर उसी आलाप की ध्वनि पड़ने लगी। उसे अपने पड़ोसी, धनी-मानी, सेठ की एकमात्र पुत्री, मालती का ध्यान भी न आया—आता भी क्यों ? वह तो ससुराल का सुख छोड़ कर, चार बरस से बीमार बाप को देखने के लिए भी न आई थी।

'मालती, आज तो तुम अपने अतिथियों की देख-भाल के लिए भी—न, कुछ देर के लिए भी—न जा सकोगी। आकाश-पाताल की निरर्थक बातों वाले महाकाव्य से आज मुझे फ़ुरसत मिली है। याद है, मालती, हमारा प्रथम मिलन कैसे हुआ था ? क्यों, मालती, उस जन्म में तो मुझे आँखें मिलेंगी ही ! तुम्हें देख भी सकूँगा। इस जन्म में जब तुम्हें एक बार देखा था, तब स्वर न

सुना था; और जब स्वर सुना, तब आँखें न थीं। तुम्हें देखा भी केवल एक बार था। तुम्हारे साथ एक और भी थी न ? तुम्हारी साड़ी का रँग धानी था, और वह ?—उसकी मुझे याद नहीं। तुम्हें मैंने जब पहला पत्र लिखा था, तब मेरी आँखें थीं। उसके बाद दो महीने तक हमारा पत्र-व्यवहार रहा। तुम्हारे पहले पत्र का अधिकांश भाग आज भी मुझे याद है। मेरी शकुन्तला का प्रथम पत्र-लेखन भी किसी प्रियम्वदा की सहायता से ही हुआ होगा ! है न, मालती ?

वह चुप थी। कमरे में रात की पर्वतीय हवा का एक झोंका आया। वह सिहर उठी। उसे भय हुआ, वह अपने को सँभाल न सकेगी। किन्तु सात वर्ष की तपस्या का धैर्य साधारण नहीं होता। उसने स्थिर हो कर शांत स्वर में कहा—'जाऊँ ? प्रतिथियों को भी तो एक बार देख आना है। इस निस्सार प्रेमकथा में क्या रक्खा है ? मेरा जीवन तो उस दिन से आरम्भ होता है, जब मैंने सुना कि जगह-जगह के डाक्टरों का इलाज कराने के बाद, तुम निराश हो कर घर लौट आए हो। घर आते ही माँ की मृत्यु हुई, मौंसी चली गई और फिर संसार में तुम्हारा कोई अपना न रहा। एक दिन मैं तुम्हारे घर आई। निस्तब्ध निशा थी। सारे नगर में अंधकार था। तुम घर में अकेले थे। तुमने पूछा—कौन हो तुम ? मैंने उत्तर दिया था—आपकी दासी।'

'और मैंने फिर क्या कहा था, याद है, मालती ? मैंने कहा था—क्या तुम मेरे स्वप्नों की स्वामिनी मालती हो ? तुमने आनंद के आँसुओं से भरे हुए नेत्रों से कहा होगा—हाँ; किन्तु कुछ क्षणों के लिए तुम चुप रहीं—गला भर आया होगा—और फिर कहा—हाँ, प्राणनाथ ! तुम्हारे स्वप्नों की स्वामिनी मालती ही हूँ मैं ! क्या मुझे अपनी चरण-सेवा का अधिकार दोगे ? और तुम मेरे पैरों से लिपट गई थीं। तुम्हारे हृत्कम्प में असंख्य सागरों की हलचल थी। उसी रात नगर छोड़ कर हम चल पड़े थे। धनी-मानी सेठ की पुत्री एक अंधे युवक के साथ निकल गई, इस कोलाहल से सम्पूर्ण नगर गूंज उठा होगा। लेकिन हम उसे बहुत पीछे छोड़ चुके थे, बहुत दूर आगे बढ़ चुके थे। घर छोड़ा, गौरव छोड़ा, माता-पिता, कुल-मर्यादा, सबको छोड़ कर तुम मेरे साथ आईं। आज ये लोग मुझे दिव्यचक्षु कहते हैं, पर मेरे अन्तर्नयनों को ज्योति किसने दी है, यह भी कोई जानता है ? मैं कितना भाग्यवान हूँ, मालती ! मेरे लिए स्वप्न भी सच हुआ, जो किसी के लिए नहीं होता।'

कवि की लम्बी अँगुलियों से अपनी पतली कोमल अँगुलियों को उसने छुड़ाना चाहा, किन्तु सब व्यर्थ।

'मालती, यह रात हमारे लिए सबसे अधिक सुख की रात है। आज मेरी

अन्तरात्मा जैसे तुमको अपना सब कुछ सौंप देना चाहती है। लगता है जैसे फिर कभी कुछ न कह सकूँगा। आज सुख की चरम सीमा है। इसके आगे न जाने क्या होगा ?

'मालती, एक दिन तुमने मुझसे चरणों का आश्रय माँगा था; आज मैं तुमसे वह भीख चाहता हूँ। मेरे महाकाव्य के पहले ही पृष्ठ पर और अपने ही हाथ से लिखो—'मालती के चरणों में !'

वह काँप उठी। उठी और काँपते हुए दोनों घुटनों को झुका कर फिर असहाय-सी वहीं बैठ गई।

बलभद्र बैठा न रह सका, वह उठ खड़ा हुआ। उसके मुख से सहसा यह उद्‌गार फूट निकला—'क्या यह सम्भव है ?'

निस्तब्ध निशा थी। ज्वालामुखी के विप्लव की भाँति निकला हुआ वह स्वर कमरे के भीतर भी उसी तरह सुनाई दिया। दोनों ही चौंक पड़े। किन्तु सुभद्रा के लिए वह स्वर अपरिचित न था। वह आहत मृगी-सी एक ही छलाँग में बाहर हो गई। क्या वह भाई का स्वर है ?—लेकिन बाहर तो कोई भी न था। उसने आँखें फाड़-फाड़ कर चारों ओर देखा। हाँ, वास्तव में वहाँ कोई न था। भाई का स्वर ?—कदाचित वह केवल भ्रम ही था। किसी अनिष्ट की सूचना तो नहीं ? आज पुरानी स्मृतियों के प्रेत, जिन्हें उसने इतने दिनों तक पास नहीं आने दिया था, सहसा जग रहे थे।

हाँ, वह मालती की सखी, सुभद्रा ही थी। वह, धनी-मानी सेठ की ऐश्वर्य-शालिनी उस एक मात्र पुत्री की निर्धन सखी, सुभद्रा ही थी। यह वही सुभद्रा थी, जो मालती के विनोद के लिए नगर के विख्यात कवि के नाम अन्तःपुर से पत्र लिखती थी। धनिक की पुत्री मालती के लिए जो विनोद था, वह एक साधारण युवती के सच्चे हृदय के लिए अंगार बन गया। वह उन पत्रों में अपने हृदय को ही चीर कर रखती थी। जो मालती के लिए विनोद और कवि के लिए सुख-स्वप्न था, वही भावुक हृदय वाली सुभद्रा के लिए प्रेम बन गया, जिसकी आग में वह आँख मूँद कर कूद पड़ी। वह जानती थी, कवि के पत्रों में पढ़ चुकी थी, कि वह मालती के अतिरिक्त किसी को छायादान न देंगे ! मालती तो इस बात को पढ़ कर विनोदवश हँस भी पड़ती थी।

सुभद्रा के हृदय में उस उपहास की याद बिजली की तरह तड़प उठी। आकाश में क्षण-क्षण और दिशा-दिशा में जो बिजली, उन्मत्त हो, नाच उठती है, सुभद्रा के हृदय में भी वही बिजली नाच रही थी और उसकी चकाचौंध में

सम्पूर्ण दिशायें, सब-कुछ — घर-बाहर, वन-पर्वत — एक निमिष में अगणित रूप धरे, काली छायाओं के रूप में, नाच उठे थे।

उसके पैर डाँवाडोल थे। उसकी टाँगें काँपती थीं और उसके घुटने हिल रहे थे। जब अपने को सँभाल न सकी, वह छत पर बैठ गई। उस अवस्था में स्वयं गंगाधर गौरीशंकर का खड़ा रह सकना भी असम्भव था। सीढ़ियों के अंधकार में छिपे हुए बलभद्र के लिए भी वहाँ छिपा रहना अब सम्भव न था। सौर-मंडल को छंदों में बांधने की क्षमता रखने वाले दिव्यचक्षु जिसे न पहचान सके थे, उस अपनी बहन, तापसी सुभद्रा को वह पहचान गया था।

'तुम्हारे चरणों की धूल लेने के लिए दुनिया भर में तुम्हें खोजता हुआ यहाँ आ पहुँचा हूँ, बहन!'—रुद्ध कंठ से बलभद्र ने कहा।

वह लड़खड़ाती-सी खड़ी हुई। सात बरस की कठिन तपस्या के भार से दबी हुई आवाज़ सहसा उसके कंठ से फूट निकली। 'भाई!' वह चीख़ उठी और उन्मत्त हो कर हवा में काँपती हुई, अपनी दोनों बाँहें उसने बलभद्र के गले में डाल दीं।

बलभद्र की आँखों से आँसुओं की धारा उमड़ चली। वह जैसे कहना चाहता था—'मैं तुम्हारी उपेक्षा नहीं करता, बहन! तुमने प्रेम की भीखके लिए छल नहीं किया, तपस्या की है। सुभद्रा, यह छल नहीं है; तपस्या है।'

भीतर कमरे में बैठे हुए दिव्यचक्षु कौतूहलवश मौन थे। घबराई हुई ऊँची आवाज़ में कवि ने पुकारा, 'मालती!'

और सुभद्रा? उसकी देह भाई की बाँहों में अवश्य थी, किन्तु सात वर्ष की कठिन तपस्या से जर्जर शरीर में अब इतनी शक्ति न थी कि वह अपने प्राणों को पींजड़े में बंदी रख सकती। भाई को पुकारने वाली सुभद्रा की वह अंतिम चीख़ थी। उसमें कोई उलाहना या शिकायत न थी।

पुकारने पर जब दिव्यचक्षु को कोई उत्तर न मिला, तो वह घबरा कर उठे। वेग से बाहर निकले और चौखट से टकरा कर वहीं बैठ गए।

पूर्व दिशा में दैत्य की तरह खड़े हुए भीमकाय पहाड़ की चोटी पर, शम्भु के तिलक की भाँति, अष्टमी का चाँद उग रहा था।

❀

ज्वाला परचूनी

बारह मौलिक कहानियां—

विविधता लिये हुए चरित्र-चित्रण

विविध परिस्थितियां

विविध स्थितियां

भाषा और शब्द शैली

का

वैविध्य

और

वैचित्र्य।

छवि-सज्जा

ग्राफ़िका, नई दिल्ली

मूल्य

दो रुपये, पचास नये पैसे